उपर्युक्त आठ सिद्धियों और इन दस विषयों में विघ्न पड़ने पर जो दु:ख होता है वह द्वेष है। इन्हीं अठारह के छिन जाने का भय अभिनिवेश है। यह विवेचन साङ्ख्य दर्शन के अनुसार है जहाँ इन पाँच क्लेशों को क्रमश: तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहा गया है। साङ्ख्य के अनुसार पुरुष में परिणमन होता ही नहीं। अत: अपने को प्रकृति से भिन्न पुरुष के रूप में जान लेने पर हम समस्थिति अर्थात् समाधि अथवा स्वरूप स्थिति में आ जाएँगे। पुरुष को प्रकृति से भिन्न जान लेना विवेक-ख्याति कहलाता है। यह विवेक-ख्याति भी एक सात्विक चित्त-वृत्ति है। इसके होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है क्योंकि इसमें भी एक चित्तवृत्ति बनी रहती है। अन्त में यह चित्तवृत्ति भी निरुद्ध हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इस स्थिति में कोई भी चित्तवृत्ति शेष नहीं रहती। योग का मार्ग सूक्ष्म है। किसी प्रकार की अणिमादि सिद्धि प्राप्त कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है। अत: इनकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिए।

सूत्र—अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २.४ ॥

अर्थ—(अस्मितादि) परिवर्तीयों (क्लेशों) की, जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्था में रहते हैं, उत्पत्तिभूमि (मूल कारण) अविद्या है।

व्याख्या

क्लेशों की पाँच अवस्थाएँ— दु:ख का मूल अज्ञान है। अज्ञान न हो तो भी बुढ़ापा आएगा, मृत्यु आएगी, बीमारी भी आ सकती है, गरीबी भी आ सकती है, हमारे साथ अन्याय भी हो सकता है, कोई हमारा अपमान भी कर सकता है, किन्तु अज्ञान के अभाव में ये कोई

प्रतिकूल परिस्थिति हमें दु:ख नहीं दे सकती। हम परिस्थिति की प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं—यह लौकिक पुरुषार्थ है, इसमें सफलता भी मिल सकती है, असफलता भी मिल सकती है। अज्ञान दूर करने का प्रयत्न अलौकिक पुरुषार्थ है, इसमें असफलता कभी नहीं मिलती। योगसूत्र लौकिक पुरुषार्थ का उपाय नहीं बतला कर अलौकिक पुरुषार्थ का ही उपाय बतलाता है।

दु:ख के कारण तो अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भी हैं किन्तु इन सब क्लेशों की उत्पत्ति अज्ञान के कारण ही होती है। यदि अज्ञान न रहे तो शेष सभी क्लेश नष्ट हो जाते हैं। दु:ख शरीर अथवा मन को होता है। आत्मा न शरीर है, न मन। जब हम यह जान लेते हैं कि शरीर या मन नहीं है, अपितु आत्मा है तो बाहर में सुख-दु:ख, मान-अपमान, लाभ-हानि चलते रहते हैं; किन्तु हम अन्दर से इन द्वन्द्वों से अप्रभावित ही रहते हैं। यही ज्ञान के द्वारा दु:खों से मुक्त होने का अर्थ है। अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को जन्म देती है। ये सभी क्लेश पाँच रूपों में रह सकते हैं। पहली अवस्था प्रसुप्त कहलाती है। उदाहरणत: पाँच वर्ष के बालक में सेक्स का भाव सोयी अवस्था में रहता है। युवा होने पर यही प्रसुप्त भाव जाग जाता है। यदि शैशव में सेक्स का सर्वथा ही अभाव मान लें तो फिर युवावस्था में इसका प्रादुर्भाव भी कहाँ से होगा। फ्रायड ने इस विषय में बहुत अनुसंधान किया और शिशु के माता के स्तनपानादि क्रियाओं में भी सेक्स की स्थिति मानी।

साधना द्वारा क्लेशों को क्षीण कर दिया जाए तो वे क्लेश तनु अर्थात् निर्बल हो जाते हैं। सत्य के अभ्यास से अविद्या, विवेक से अस्मिता, मध्यस्थता के भाव से राग-द्वेष तथा ममता के त्याग से अभिनिवेश

नामक क्लेश तनु अर्थात् निर्बल हो जाते हैं। क्रियायोग द्वारा क्लेशों को निर्बल बनाए रखना चाहिए। क्लेश जितने निर्बल होंगे, दु:ख उतना ही कम होगा। क्लेशों की तीसरी अवस्था विच्छिन्न कहलाती है। राग प्रबल हो तो द्वेष विच्छिन्न रहता है। द्वेष प्रबल हो तो राग विच्छिन्न रहता है, क्योंकि राग और द्वेष एक-दूसरे के विरोधी हैं। राग होने पर लगता है कि द्वेष है ही नहीं, किन्तु ज्यों ही राग कमजोर होता है, द्वेष प्रकट होने लगता है। प्रसुप्त क्लेश समय पाकर जागृत हो जाते हैं। तनु क्लेश भी वासना से अभिभूत हो जाते हैं। विच्छिन्न क्लेश भी विरोधी भाव के चले जाने पर प्रकट हो जाते हैं। क्लेशों का यह अभिव्यक्त रूप ही उदार कहलाता है।

प्रसुप्त क्लेश बीज की तरह है। वे अनुकूल सामग्री पाकर अंकुरित हो जाते हैं। किन्तु यदि उन बीजों को ज्ञान की अग्नि में भून दिया जाए, तो फिर वे अंकुरित नहीं होते। यह क्लेश की पाँचवीं अवस्था है। इस अवस्था वाला व्यक्ति ही मुक्त कहलाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। उसके सामने अनुकूल सामग्री हो तो भी उसके क्लेश प्रबुद्ध नहीं होते। इसे ही कालिदास ने इन शब्दों में कहा है कि विकार का हेतु होने पर भी धीर पुरुषों के चित्त में विक्रिया नहीं आती। कभी-कभी हमारी चित्तवृत्ति एक विषय में अत्यधिक क्लिष्ट रहती है। अत: दूसरे विषयों में क्लेश विच्छिन्न रहता है। उदाहरणत: यदि हमारी आसक्ति एक स्त्री के विषय में बहुत अधिक है तो दूसरी स्त्रियों के प्रति हमारा आकर्षण नहीं होता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारी अन्य स्त्रियों के प्रति अनासक्ति हो गई है। वैसी अवस्था में अन्य स्त्रियों के प्रति हमारा राग विच्छिन्न ही रहता है। इसी प्रकार किसी एक क्लेश

के उदार अर्थात् अभिव्यक्त होने पर शेष क्लेश प्रसुप्त तनु या विच्छिन्न हो सकते हैं। क्लेशों का प्रभावहीन होना तो ज्ञान द्वारा सम्भव है।

अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल शास्त्रोक्त कर्म जीवन-यापन के लिए सबको करने ही चाहिए। ज्ञान-प्राप्ति के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय भी श्रेयस्कर है। अहंकार-विसर्जन के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि ही भक्ति है। अत: कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करना ही श्रेयस्कर है। इनमें से किसी एक को उपादेय तथा दूसरे को हेय बताना किसी भी वैदिक शास्त्र को अभिप्रेत नहीं।

सूत्र—अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ २.५॥

अर्थ—अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दु:ख में सुख तथा जड में चेतन की समझ अविद्या है।

सूत्र—दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ २.६॥

अर्थ—दृक् शक्ति (पुरुष) तथा दर्शन शक्ति (चित्त) को एक ही समझना अस्मिता है।

सूत्र—सुखानुशयी राग:॥ २.७॥

अर्थ—सुख (भोगने के बाद) रहने वाली (उसे भोगने की इच्छा) राग है।

सूत्र—दु:खानुशयी द्वेष: ॥ २.८॥

अर्थ—दु:ख (के अनुभव) के बाद (उसके प्रति जुगुप्सा का भाव) द्वेष है।

सूत्र—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ २.९ ॥

अर्थ—स्वभाव से ही विद्वान् में भी (मूर्खों के ही समान) आरूढ़ मृत्यु का भय अभिनिवेश है।

व्याख्या

मूल क्लेशों का स्वरूप—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक चार क्लेशों का मूल अविद्या है। अविद्या का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु जो वस्तुतः जैसा है उसे उसके विपरीत जानना अविद्या है। यह अविद्या ही शेष सब क्लेशों का मूल है। यदि अविद्या के स्थान पर विद्या आ जाए, तो शेष सभी क्लेश स्वतः ही दूर हो जाएँगे। इस बात पर विचार करना चाहिए।

अविद्या से पहला क्लेश उत्पन्न होता है—अस्मिता। बुद्धि परिणामी है—कभी हम बुद्धि से निर्णय लेते हैं कि सांख्य-दर्शन ठीक है। बाद में हम अपना निर्णय बदल लेते हैं कि सांख्य नहीं, अपितु वेदान्त-दर्शन ठीक है। यह बुद्धि के परिणामी होने का प्रमाण है। इसके विपरीत पुरुष अपरिणामी है। किन्तु हम अविद्यावश बुद्धि तथा पुरुष को एक ही मानकर बुद्धि में होने वाले सुख-दुःख के अनुभव को अपना अर्थात् पुरुष का सुख-दुःख मान लेते हैं। यही अस्मिता है जो दुःख का कारण बनती है। इस अस्मिता के कारण हम प्रकृति के कर्तृत्व को अपना कर्तृत्व मान लेते हैं। यही अहङ्कार का कारण बन जाता है। इस अहङ्कार के कारण हम समझते हैं कि हम धनी हैं अथवा निर्धन हैं, कुलीन हैं अथवा निम्न कुल के हैं, हम यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं अथवा चोरी आदि अशुभ कर्म करते हैं इत्यादि। इस कर्तृत्व के अहङ्कार से हम या तो श्रेष्ठता की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाते हैं, या हीनता की ग्रन्थि से। हम ऊँची

स्थिति में हैं या शुभ कर्म करते हैं तो हम में श्रेष्ठता की ग्रन्थि बन जाती है और यदि हम नीची स्थिति में हैं या अशुभ कर्म करते हैं तो हम में हीनता की ग्रन्थि बन जाती है। हम ग्रन्थि-मुक्त तभी हो सकते हैं जब हम समझ लें कि हम बुद्धि नहीं हैं और इसलिए बुद्धि में होने वाले परिणाम हमारा स्पर्श नहीं करते। यदि परिवर्तन बुद्धि में होते हैं, तो वे परिवर्तन हमें अपने में होने वाले प्रतीत होते हैं, इसका नाम ही अविद्या है। ऐसा भ्रम हमें लौकिक जगत् में भी होता है। उदाहरणतः चलती पृथ्वी है किन्तु प्रतीत यह होता है कि सूर्य चल रहा है। जैसे ही यह भ्रम-जन्य अस्मिता दूर होती है वैसे ही बुद्धि की परिणमनशीलता, मालिन्य और जडता से मुक्त हम पुरुष के अपरिणामी, शुद्ध और चेतन स्वरूप में स्थित होकर दुःख से भी मुक्त हो जाते हैं। समस्त भोग प्रकृति के हैं और प्रकृति में ही भोगे जाते हैं। शरीर को आत्मा मानने पर तो शरीर का ही भान होता है, किन्तु अस्मिता में बुद्धि तथा पुरुष का अविभक्त रूप में अर्थात् वे दोनों एक हैं—ऐसा ज्ञान होता है। इसे ही जड-चेतन की ग्रन्थि कहा जाता है। यह ग्रन्थि टूट जाए तो सब कर्म क्षीण हो जाते हैं, सब संशय दूर हो जाते हैं। बुद्धि के भोगों को अपना मानने पर सुख भोग की लालसा बनी रहती है। यह लालसा ही राग कहलाती है।

यदि सुख मुझे होता है तो सुख की इच्छा करना स्वाभाविक है। किन्तु यदि सुख-दुःख मेरे हैं ही नहीं तो राग-द्वेष करना निरर्थक हो जाता है। सुख का अनुभव सदा नहीं होता, किन्तु सुखानुभूति का संस्कार सदा बना रहता है। अनुकूल निमित्त मिलने पर यह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है। प्रसुप्त अवस्था में भी सुख का लोभ सदा बना रहता है। यह लोभ ही राग कहलाता है। इस प्रकार अविद्या से अस्मिता और अस्मिता

से राग उत्पन्न होता है। राग से द्वेष उत्पन्न होता है। मूल में सुख की इच्छा है। सुख की प्राप्ति में जो बाधक होता है, उसके प्रति हममें द्वेष उत्पन्न हो जाता है। यदि राग न हो तो द्वेष भी नहीं हो सकता। द्वेष के पात्र के प्रति हमारे मन में क्रोध का भाव रहता है। कभी सुख के निमित्त आते हैं तो राग उद्भूत हो जाता है, दु:ख के निमित्त आते हैं तो द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सुख स्वयं में एक विधायक भाव भी है और दु:खाभाव रूप भी है। इसी प्रकार दु:ख स्वयं में एक विधायक भाव भी है और सुखाभाव रूप भी है। इस नाते सुख और दु:ख दोनों परस्पर जुड़े हैं। इसीलिए राग और द्वेष भी परस्पर जुड़े हैं। हम राग-द्वेष के झूले में झूलते रहते हैं। जब किसी से स्वार्थ की सिद्धि होती प्रतीत हो तो हमें वह प्रिय लगता है, किन्तु जब उसी से हमारे स्वार्थ टकराते हैं तो वह अप्रिय लगता है।

अविद्या के चार रूप हैं—

(१) अविद्या भी एक ज्ञान है, किन्तु यह विपरीत ज्ञान है। अविद्या विद्या का अभाव ही नहीं है अपितु वह गलत ज्ञान है। अविद्या का एक नाम माया भी है। यह अविद्या जीव में अनादिकाल से चली आ रही है। मृत्यु का भय हम सबमें है, किन्तु साथ ही हम यह भी समझते हैं कि हम सदा बने रहेंगे। यही अनित्य को नित्य मान बैठने का अज्ञान है। हर परिवर्तन के पीछे एक नित्य पदार्थ रहता है। वाहन का पहिया घूमता है, किन्तु जिस धुरी पर वह घूमता है वह धुरी स्थिर है। प्रकृति का आवरण उस नित्य तत्त्व को छिपाए रहता है और अनित्य तत्व को अभिव्यक्त कर देता है। विद्या की दृष्टि अनित्य को भेद कर नित्य तक जाती है। यही वास्तविक जागरण है।

(२) अविद्या कहें, मोह करें, सम्मोहन करें, उसका एक आकर्षण है। बेईमानी से पैसा मिलता है तो पैसा बहुत प्रिय लगता है। उस प्रियता के सामने बेईमानी करने में जो आत्मग्लानि है वह छिप जाती है या दब जाती है। किसी को कष्ट देने में कोई आनन्द नहीं मिल सकता, किन्तु शिकारी अपने शिकार को पीड़ा से छटपटाते देख कर प्रसन्न होता है। किसी का अभ्युदय देख कर ईर्ष्या करने पर स्वयं ही व्यक्ति अपने लिए दु:ख उत्पन्न करता है, फिर भी हमें ईर्ष्या की जलन होती है। यह सब अविद्या का परिणाम है।

(३) अविद्या का एक विषम कार्य है—दु:ख में सुख की प्रतीति करवा देना। सारे सांसारिक सुख वास्तव में दु:ख हैं किन्तु फिर भी हम उनके पीछे दौड़ते हैं। आवश्यकता की पूर्ति के लिए भोजन, वस्त्रादि जुटाना एक बात है और भोजन वस्त्रादि में सुख मानकर उनकी लालसा करना दूसरी बात है। भोजन किया तो शरीर बना रहा—यह एक दृष्टि है। शरीर साधन बनता है, साधना का। अत: शरीर का रक्षण होना चाहिए किन्तु भोजन से रस लोलुपता को तृप्ति मिलती है—यह दूसरी दृष्टि है। तब भोजन साधन न रहकर साध्य बन जाता है। ऐसे में आहार-संयम नहीं रह पाता और भोजन आवश्यकता की पूर्ति का साधन न रह कर भोग का साधन बन जाता है। आवश्यकता की पूर्ति करना बंधन नहीं है, भोग-लालसा की तृप्ति करना बंधन है।

(४) हमारी आत्मा के ऊपर अनेक आवरण हैं। अन्नमय कोश प्रथम आवरण है जिसे स्थूल शरीर कहा जाता है। उसके अनन्तर प्राणमय कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोश जाते हैं। प्राण, मन और विज्ञान सूक्ष्म शरीर के घटक हैं और आनन्दमय कोश

कारण शरीर है। इनमें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर में से किसी को भी आत्मा समझ लेना चौथी प्रकार की अविद्या है। शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। अतः शरीर में अहं बुद्धि सबसे अधिक प्रबल है और यही दुःख का सबसे बड़ा कारण भी है।

सभी सुख-दुःख शरीर को होते हैं, आत्मा सुख-दुःख से परे है। शरीर भोजन करता है, आत्मा को भोजन की आवश्यकता नहीं है। मन इच्छा करता है, आत्मा में कोई इच्छा नहीं है। बुद्धि अच्छे-बुरे का विवेक करती है, आत्मा धर्म-अधर्म दोनों से परे शुद्ध चैतन्य है।

आत्मा के इस स्वरूप को जानने के बाद कोई संकल्प-विकल्प साधक का स्पर्श नहीं करते। वह सदा एकरस साक्षिभाव में रहता है। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा तो सदा ही मुक्त है। अज्ञानवश जीव अपने को बद्ध मान रहा है। यह बद्ध-भाव इसीलिए आता है कि आत्मा अपने शुद्ध रूप को न जानकर अनात्म में आत्मबुद्धि किए है।

अविद्या एक आवरण की तरह है। यह आवरण प्रकृति ने बनाया है अथवा प्रकृति स्वयं ही आवरण बन गई है। इसलिए उपनिषद् माया को प्रकृति बताते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में हम प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूप की वास्तविकता को जानते हैं।

प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को जानने पर प्रकृति का आवरण हट जाता है। ऐसा होने पर आत्मा स्वरूप में स्थित हो जाती है। यही असम्प्रज्ञात समाधि है। योगी के भी शरीर में शरीर के धर्म जरा, रोग, मृत्यु आदि होते हैं किन्तु योगी उन्हें अपने मान कर दुःखी नहीं होता। यही कैवल्य की प्राप्ति है।

सूत्र—ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥ २.१०॥

अर्थ—वे (क्लेश) सूक्ष्म रूप में (चित्त के) अपने कारण में लीन होने पर दूर किये जाने योग्य हैं।

सूत्र—ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ २.११॥

अर्थ—वे (क्रियायोग द्वारा क्षीण कर दी गयीं) वृत्तियाँ ध्यान से नष्ट कर देनी चाहिये।

सूत्र—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥ २.१२॥

अर्थ—कर्म की वासना, जो क्लेश की मूल है, वर्तमान तथा भावी जन्म में भोगने योग्य है।

व्याख्या

कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। रोग, जरा, मरण, दारिद्र्य, अपमान—ये दुःख हैं। क्लेश कारण है, दुःख उनके कार्य हैं। दुःखों के रूप बदलते रहते हैं, किन्तु दुःख बने रहते हैं। कारण यह है कि दुःख तो कार्य है, उसका कारण तो क्लेश है। हम दुःखों से इतनी बुरी तरह घिरे हैं कि जब शास्त्र कहते हैं कि दुःख की जड़ अज्ञान है तो लगता है कि बहुत अव्यावहारिक बात कही जा रही है। समस्या तो यह है कि पेट को रोटी नहीं मिल रही। लेकिन कहा जा रहा है कि अविद्या खत्म हो जाएगी, तो सब समस्याएँ समाहित हो जाएँगी। यह बात कुछ जँचती नहीं है। अतः चारों तरफ रोटी, कपड़ा, मकान और चिकित्सा का शोर मचा है। ज्ञान चर्चा को बुद्धि-विलास समझ लिया गया है। दुःख को दूर करने के साथ दुःख के कारण क्लेशों को भी दूर करना चाहिए। योग के

बहिरङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार—दु:ख भी दूर करते हैं और क्लेशों को दूर करने में भी सहायक हैं, किन्तु योग के अन्तरङ्ग—धारण, ध्यान और समाधि—मुख्यत: क्लेशों को ही दूर करने के साधन हैं।

अविद्या आदि पाँचों क्लेश स्थूल भी होते हैं और सूक्ष्म भी। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूपी क्रिया-योग से इन क्लेशों का स्थूल रूप तो समाप्त हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म रूप में ये बने रहते हैं। क्लेशों के सूक्ष्म रूप से छुटकारा पाने का उपाय है—प्रति-प्रसव। कौन क्लेश कहाँ से उत्पन्न होता है—इसे जानें। इसे वैचारिक धरातल पर ही नहीं, अनुभूति के स्तर पर भी जानें। एक क्लेश है—मृत्यु का भय। मृत्यु का भय उत्पन्न हुआ है राग-द्वेष के कारण। राग-द्वेष उत्पन्न हुए हैं अस्मिता अर्थात् अहङ्कार के कारण और अहङ्कार उत्पन्न हुआ है अविद्या के कारण। यह अविद्या चित्त में रहती है। वैचारिक स्तर पर यह ज्ञान सम्प्रज्ञात-समाधि के द्वारा होता है। इससे क्लेशों का स्थूल रूप समाप्त हो जाता है। अनुभूति के स्तर पर यह ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा होता है। इससे क्लेशों का सूक्ष्म रूप भी समाप्त हो जाता है। मृत्यु के भय को राग-द्वेष के निवारण द्वारा ही दूर किया जा सकता है। यह प्रति-प्रसव का प्रथम चरण हुआ अर्थात् कारण को दूर करके कार्य को दूर किया जाता है। अहङ्कार को दूर करके ही राग-द्वेष को दूर किया जा सकता है—यह प्रति-प्रसव का दूसरा चरण हुआ। अहङ्कार को दूर करने के लिए अविद्या को दूर करना होगा। यह प्रति-प्रसव का तीसरा चरण हुआ। अविद्या को दूर करने के लिए चित्त-वृत्ति का निरोध करना होगा—यह प्रति-प्रसव का चतुर्थ और अन्तिम चरण हुआ। यह असम्प्रज्ञात समाधि है। प्रसव का अर्थ है उत्पत्ति। प्रति-प्रसव का अर्थ है प्रलय। कारण का लय होने पर कार्य भी समाप्त हो जाता है। यही प्रति-प्रसव है।

राग-द्वेष न हो तो मृत्यु का भय टिक ही नहीं सकता। हमें कुछ प्राप्त करना है और कुछ का निवारण करना है। ये दो काम अभी हुए नहीं, अत: हम मृत्यु से डरते हैं कि यदि हम मर गए तो जो करना है उसे कैसे करेंगे? यदि यह राग-द्वेष न रहे तो मृत्यु से डरने का कोई कारण नहीं। हमें कुछ करना है—यही अहङ्कार है। यदि अहङ्कार न रहे तो राग-द्वेष नहीं रह सकता। मैं कर्त्ता हूँ इस अज्ञान से ही यह अहङ्कार होता है, मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ—यह ज्ञान उत्पन्न हो जाए तो यह विकल्प भी नहीं रहेगा कि मुझे कुछ करना है। इस प्रकार मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ यह जानने पर द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है, चित्त प्रकृति में विलीन हो जाता है। यही मुक्ति है।

अभिप्राय यह हुआ कि चोट कारण पर करनी है। उसके बिना कार्य को मिटाने की कितनी ही कोशिश करें, कार्य मिटेगा नहीं। संक्षेप में, यह ज्ञान कि मैं द्रष्टा हूँ, कर्त्ता नहीं, अविद्या को दूर करके कर्तृत्व के अहङ्कार को मिटा देगा। कर्तृत्व का अहङ्कार न रहेगा तो राग-द्वेष भी न रहेगा। राग-द्वेष के बिना मृत्यु का भय भी न रहेगा और ये पाँचों के क्लेश समाप्त हो जाने पर भले ही सांसारिकी अनुकूलता-प्रतिकूलताएँ बनी रहें, किन्तु साधक उनसे प्रभावित नहीं होगा। यही समाधि है, यही निर्वाण है, यही अमृतत्व है।

कर्म हो किन्तु वासना नहीं—शास्त्रकारों की यह रीति रही है कि अंतिम लक्ष्य की चर्चा पहले करते हैं। फिर वह अन्तिम लक्ष्य सबके लिए अकस्मात् प्राप्य नहीं है—यह मानकर मध्यम मार्ग की चर्चा भी कर देते हैं। अन्तिम लक्ष्य तो चित्तवृत्ति का निरोध है किन्तु जब-तक वह लक्ष्य प्राप्त न हो तब तक चित्तवृत्ति की एकाग्रता का लक्ष्य साधना

चाहिए। अत: चित्तवृत्ति का निरोध योग है, यह कहने के बाद पतञ्जलि चित्तवृत्ति की एकाग्रता की भी चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार यहाँ प्रथम तो चित्त को प्रकृति में प्रलीन करके अविद्या को, अविद्या के निवारण द्वारा अस्मिता को, अस्मिता के निवारण द्वारा राग-द्वेष को और फिर राग-द्वेष के निवारण द्वारा मृत्यु के भय को दूर करने की बात पतञ्जलि ने की है। किन्तु यह अन्तिम लक्ष्य है। जब तक यह पूर्णता प्राप्त न हो, तब तक क्लेश अनुकूल निमित्त पाकर प्रकट होते रहते हैं। वर्तमान में हमारे मन में कोई राग नहीं है, किन्तु कहीं से पैसा मिलने की संभावना बनते ही हमारा धन के प्रति राग प्रकट हो जाता है। अर्थ यह हुआ कि धन का राग बीज रूप में हम में था, अनुकूल निमित्त पाकर वह अङ्कुरित हो गया। यदि राग का यह बीज जला दिया जाए तो भुने हुए बीज की तरह उसमें अङ्कुरित होने की सामर्थ्य शेष नहीं रहेगी। क्लेश के बीजों को दग्ध करने का उपाय ही ध्यान है। यह ध्यान है—विवेकख्याति। जब भी अविद्या आदि किसी क्लेश का उदय हो तो हम विवेकपूर्वक उसे देखें। यही विवेकख्याति है। जब क्लेश आए तो हम उसके साथ तदाकार न हो जाएँ अपितु उससे पृथक् रहकर उसे देखें। जब हममें राग भाव का उदय होता है तो हम उस राग भाव में ही रँग जाते हैं। इस प्रकार राग कभी समाप्त नहीं होता। हम राग से अलग होकर उसे देखें तो राग स्वयं विलीन हो जाएगा। पहले पहल हम राग से एक क्षण के लिए अलग हो पाएँगे, किन्तु दूसरे ही क्षण राग फिर हमें पकड़ लेगा। शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों राग के प्रति द्रष्टृभाव की अवधि बढ़ेगी, हम पर राग की पकड़ कम होती चली जाएगी। हम राग को देखें भी और हम पर राग की पकड़ भी बनी रहे—ऐसा नहीं हो सकता। जब

हम रागग्रस्त होते हैं तो हमारा द्रष्टृभाव लुप्त हो जाता है और भोक्तृभाव प्रबल हो जाता है। इसके विपरीत जैसे ही द्रष्टृभाव उदित होता है भोक्तृभाव निर्बल हो जाता है। अभ्यास द्वारा द्रष्टृभाव से भोक्तृभाव को सर्वथा विलीन किया जा सकता है। जब द्रष्टृभाव का पूर्ण उदय हो जाता है, तो क्लेश दग्ध-बीज के समान अशक्त होकर अङ्कुरित नहीं हो सकते। जिनके क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश साक्षि-भाव द्वारा दग्ध बीज के समान अशक्त हो गए हैं, उनके दैनंदिन कर्म किसी वासना से दूषित नहीं होते इसलिए वे कर्मों का फल भी नहीं भोगते। फल भोक्तृत्व वासना से उत्पन्न होता है, कर्म से नहीं। कर्म वर्तमान में होता है, फल भविष्य में रहता है। जो वर्तमान में न रहकर भविष्य की आशा में ही जीते हैं, उनके चित्त पर वासना एक प्रकार का संस्कार बना देती है। यह संस्कार ही सुख-दुःख का कारण बनता है।

वस्तुतः अज्ञानी का कर्म अतीत में सूचित संस्कारों से तथा भविष्य में मिलने वाले फल की आकांक्षा से इतना अभिभूत रहता है कि वह कभी वर्तमान में रह ही नहीं पाता। जो साधक वर्तमान में टिक जाता है, वह पाता है कि उसके अतीत के संस्कार और भावी फलाकांक्षा दोनों विलीन होने लगते हैं। फिर उसके लिए कर्म बंधन नहीं बन पाता। हम अपने जीवन को देखें। हम जो भी करते हैं उसमें अतीत के कर्मों की स्मृति छाई रहती है। हम अपने वर्तमान का मूल्याङ्कन अपने उस अतीत के अनुभव के आधार पर करते हैं। जिन कर्मों का फल हमें अनुकूल लगा था, हम उस कर्म की पुनरावृत्ति करना चाहते हैं तथा जिन कर्मों का फल हमें प्रतिकूल लगा, हम उनसे बचना चाहते हैं। किन्तु हम ऐसा करने में सदा सफल नहीं होते।

सूत्र—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥ २.१३॥

अर्थ—(अविद्यादि) मूल के रहने पर उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग है।

सूत्र—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥ २.१४॥

अर्थ—वे (जाति, आयु और भोग) पुण्य और पाप के कारण सुख और दु:ख रूप फल देते हैं।

व्याख्या

कर्म-फल का विवेचन—सुख-दु:ख के बारे में एक प्रश्न विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या सुख-दु:ख का सम्बन्ध गरीबी-अमीरी से है? गरीबों में भी सुखी लोग हैं, अमीरों में दु:खी लोग हैं। इसी तरह गरीबों में भी दु:खी लोग हैं और अमीरों में भी सुखी लोग हैं। ऐसा भी नहीं है कि गरीबों में अधिकतर लोग दु:खी हों और अमीरों में अधिकतर लोग सुखी हों। फिर प्रश्न उठता है कि सुख-दु:ख का सम्बन्ध यदि गरीबी-अमीरी से नहीं है तो किससे है? पतञ्जलि कहते हैं कि सुख-दु:ख का सम्बन्ध पुण्य और पाप से है। बहुत बार पतञ्जलि के इस सूत्र की दुर्व्याख्या की गई है।

भूल से जिन्होंने गरीबी को दु:ख और अमीरी को सुख मान लिया उन्होंने यह भी मान लिया कि अमीर पुण्यों के कारण अमीर है और गरीब पापों के कारण गरीब है। यदि ऐसा है तो गरीबों की गरीबी दूर करने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। गरीब अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं, हम बीच में हस्तक्षेप क्यों करें? इस प्रकार पाप-पुण्य का सिद्धान्त यथास्थितिवाद का समर्थक बन गया। तब मार्क्सवाद को कर्मवाद के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा। मार्क्सवाद को लगा कि गरीबी उस

सामाजिक मान्यता के कारण है जो शारीरिक श्रम को हेय और पूँजी को उपादेय मानती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजी से श्रम खरीदा जा सकता है। क्योंकि पूँजी कम लोगों के पास है जबकि श्रम अधिक लोगों के पास है, अत: पूँजीपति श्रमजीवियों का शोषण करके अमीर बन गया और कहता यह है कि उसकी अमीरी उसके पुण्य का फल है। इस शोषण का समर्थक होकर कर्मवाद मार्क्सवाद के प्रहार का पात्र बन गया।

वस्तुत: गरीबी-अमीरी कर्म का फल नहीं है, अपितु व्यवस्था का फल है। यदि व्यवस्था बदल दी जाए तो गरीब अमीर और अमीर गरीब हो जाएगा। वस्तुत: दु:ख-सुख कर्म का फल अवश्य है किन्तु न अमीरी सुख है न गरीबी दु:ख है। यदि अमीरी को सुख तथा गरीबी को दु:ख मान भी लिया जाए तो भी कर्म का फल कम-से-कम अमीरी-गरीबी से मिलने वाला सुख-दु:ख तो नहीं है जो पुण्य-पाप का फल है। पतञ्जलि ने पुण्य-पाप से मिलने वाले फल के लिए सुख-दु:ख का प्रयोग न करके ह्लाद और परिताप शब्द का प्रयोग किया है। सुख में और ह्लाद में अन्तर है। सुख का अर्थ है वह सामग्री जो इन्द्रियों के अनुकूल लगे, ह्लाद का अर्थ है कि चित्त की वह प्रफुल्लता जो चित्त की निर्मलता से प्रकट होती है। इसी प्रकार दु:ख का अर्थ है वह सामग्री जो इन्द्रियों को प्रतिकूल लगे, परिताप का अर्थ है चित्त की मलिनता के कारण चित्त की प्रफुल्लता का छिप जाना। जो गरीबी में भी प्रफुल्लित है, यह उनके चित्त की निर्मलता का परिणाम है। यह पुण्य का फल है। जो अमीरी में भी भाराक्रान्त हैं, यह उनके चित्त की मलिनता का परिणाम है। यह पाप का फल है। निष्कर्ष यह हुआ कि गरीबी-अमीरी व्यवस्था के बदलने से बदल जाती है, उनका सम्बन्ध पुण्य-पाप से नहीं है। चित्त की प्रफुल्लता

अथवा भारीपन चित्त की निर्मलता तथा मलिनता से प्रकट होते हैं। वे पुण्य पाप का फल हैं। अमीरी-गरीबी एक परिस्थिति है। ह्लाद और परिताप एक मन:स्थिति है। परिस्थिति मन:स्थिति में निमित्त बन भी सकती है और निमित्त नहीं भी बन सकती है। यदि परिस्थिति मन:स्थिति के बनने में कोई योगदान देती भी है तो वह योगदान निमित्त के रूप में ही होता है, उपादान तो चित्त की निर्मलता ही बनती है। यह चित्त की निर्मलता पुण्य का फल है। इसी प्रकार चित्त की मलिनता पाप का फल है। इस प्रकार पुण्य और पाप चित्त की निर्मलता तथा मलिनता के द्वारा चित्त में प्रफुल्लता तथा भारीपन पैदा करते हैं। पुण्य और पाप हैं चित्त के ही धर्म, आत्मा तो पुण्य-पापातीत है। सत्वगुण से पुण्य तथा तमोगुण से पाप उत्पन्न होता है। रजोगुण का कार्य कर्म में प्रवृत्त करना है। सत्व गुण अधिक होगा तो हमारे वे रजोगुण प्रेरित कर्म पुण्य रूप हो जाएँगे, तमोगुण अधिक होगा तो हमारे रजोगुण प्रेरित कर्म पाप रूप हो जाएँगे। योग क्योंकि चित्तवृत्ति के निरोध का नाम है अत: वह न पाप रूप है, न पुण्य रूप।

सूत्र—परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:॥ २.१५॥

अर्थ—विवेकी के लिये सब कुछ सुख भी दु:ख ही है क्योंकि परिणाम का दु:ख, ताप का दु:ख और संस्कार का दु:ख बना रहता है तथा गुणों की वृत्ति में भी विरोध है।

व्याख्या

भोगों का दु:खरूपता—चित्तवृत्ति का निरोध करना चाहिए। निरोध ही योग है। किन्तु चित्तवृत्ति का निरोध हो नहीं पाता, वह सदा

इधर-उधर भागती रहती है और इसी कारण योग सध नहीं पाता। चित्तवृत्ति इतस्तत: सुख की खोज में भागती है। हम जहाँ भी हैं, सुख वहाँ से आगे कहीं और नजर आता है। सुख कहीं भविष्य में है, वर्तमान में तो वही घिसापिटा है सब कुछ, भविष्य में कहीं कुछ नया होगा—इस मृगतृष्णा से चित्त भविष्य में भागता है सुख की खोज में। यह भागना आजीवन चलता है, फिर भी सुख कहीं मिलता नहीं। यदि सुख मिल जाए तो फिर वहाँ चित्तवृत्ति टिक ही न जाए? चित्तवृत्ति टिकी नहीं है—यह इस बात का सबूत है कि सुख नहीं मिला है।

सुख इसलिए नहीं मिला कि जहाँ सुख खोजने गए थे वहाँ सुख था ही नहीं। सुख होता तो मिलता। सुख खोजने गए थे इन्द्रियों के विषयों में—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द में। सुन्दर से सुन्दर रूप भी मिल गया, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट रस, भीनी-भीनी सुगन्ध, कोमलतम स्पर्श और मधुरतम शब्द मिल गया—पर सुख नहीं मिला। तब मन दौड़ा सम्मान के लिए। सम्मान भी मिला पर चित्तवृत्ति भागती ही रही। सुख मिल जाता तो चित्तवृत्ति भविष्य की आशा में न भागती। सुख क्यों नहीं मिला? क्योंकि वहाँ सुख नहीं था, अपितु दु:ख था। था तो दु:ख, किन्तु जब तक विवेक न जागे तब तक यह बात समझ में नहीं आती, राग छूटकर वैराग्य नहीं जागता। विवेक जागे तो पता चलेगा। इन्द्रियों के तथा मन के सब विषय परिवर्तनशील हैं। वे आते हैं तो सुख मालूम होता है किन्तु हम अभी सुख का अनुभव भी नहीं कर पाते कि वे विषय जाने की तैयारी करने लगते हैं और जाते हुए वे अपने पीछे छोड़ जाते हैं वियोग का दु:ख और अवसाद हमें घेर लेता है। अवसाद घेर लेता है क्योंकि बिछड़ जाने वाले विषयों की स्मृति बड़ी कटु होती है। भोग से इन्द्रियाँ संतुष्ट नहीं होतीं, बल्कि निर्बल हो जाती हैं। इन्द्रियाँ निर्बल भले

हो जाएँ किन्तु भोगों की लालसा निर्बल नहीं होती बल्कि और बढ़ जाती है। भोजन उपलब्ध हो तो भूख उतनी नहीं सताती किन्तु भोजन उपलब्ध न हो तो भूख के अतिरिक्त और कुछ नजर ही नहीं आता। वृद्धावस्था में यही होता है। प्रथम तो वृद्ध व्यक्ति को भोग उपलब्ध ही कम होते हैं और यदि उपलब्ध हो भी जाएँ तो वह उन्हें भोगने में असमर्थ हो जाता है। मधुमेह के रोगी के सामने मिठाइयों का ढेर भी लगा हो तो वह उन्हें खा नहीं सकता—डॉक्टर ने मना कर दिया है। हर तथाकथित सुखद स्थिति के दो परिणाम अवश्य होते हैं, प्रथम तो वह सुखद स्थिति अधिक समय तक टिक जाए तो हम उससे ऊब जाते हैं, प्रत्येक भोग एक सीमा के बाद वितृष्णा पैदा कर देता है। दूसरे, प्रत्येक भोग हमारी भोगने की शक्ति को कम करता है। अतः जागरूक व्यक्ति को सभी भोग दु:खरूप ही लगते हैं।

कोई भोग बिना कष्ट सहे नहीं मिलता और बिना कष्ट सहे मिल जाए तो वह भोग सुख नहीं देता। मान लें कि भोग मिल गया तो भोग के छिनने का भय सदा बना रहता है। एक भोग भोगने से उस भोग की आदत बन जाती है। उस भोग को प्राप्त करने की लालसा राग के संस्कार को दृढ़ बनाती है तथा उस भोग की प्राप्ति में बाधक व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों के प्रति द्वेष बना रहता है।

मनुष्य तीन परस्पर विरोधी गुणों का पुञ्ज है। उसमें सत्व गुण भी है। रजोगुण और तमोगुण भी है। ये तीनों गुण अलग-अलग काम करते हैं। सत्वगुण कहता है कि जानो, तो रजोगुण कहता है कि कुछ करो और तमोगुण कहता है कि जानकर या करके क्या लाभ होना है, चैन से बैठो। इन तीनों गुणों का यह संघर्ष चलता रहता है। कभी कोई गुण बलवान् हो जाता है तो कभी कोई गुण। इसलिए मनुष्य कभी स्थिर

नहीं रह पाता। सत्व का उद्रेक होने पर जो सुख होता है वह रजोगुण के दु:ख द्वारा अभिभूत कर लिया जाता है। सुख सदा बना रहे, यह संभव ही नहीं है, क्योंकि गुण सदा बदलते हैं। तीन गुण सदा विषम अवस्था में ही रहते हैं। गुणों की यह विषम अवस्था हमें कभी अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त नहीं होने देती। यह अन्तर्द्वन्द्व हमें निर्द्वन्द्व नहीं होने देता।

सूत्र—हेयं दु:खमनागतम्॥ २.१६॥

अर्थ—आगे आने वाले दु:ख की निवृत्ति करनी चाहिये।

सूत्र—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥ २.१७॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय (दु:ख) का हेतु है।

व्याख्या

सुख-दु:ख मेरे नहीं हैं—योगशास्त्र की सारी विषयवस्तु चार भागों में विभक्त है—1. दु:ख त्याज्य है। सभी प्राणी चाहते हैं कि उन्हें दु:ख न हो। 2. दु:ख का कारण है। दु:ख से छुटकारा पाने के लिए दु:ख के कारण का निवारण करना होगा। 3. दु:ख से छुटकारा सम्भव है। दु:ख हमारा स्वभाव नहीं है। अतः दु:ख से मुक्ति सम्भव है। 4. दु:ख से मुक्ति पाने के उपाय हैं। शास्त्र इन्हीं उपायों को बताते हैं। भगवान् बुद्ध ने इन्हीं चार विषयों को चार आर्य सत्य कहा है। योगशास्त्र उस चिकित्साशास्त्र के समान है जो मानता है कि रोग हेय है, रोग का कारण है, रोग के कारण का निवारण है तथा रोग से मुक्ति है। चिकित्साशास्त्र की योगशास्त्र से इस समानता के आधार पर भगवान् बुद्ध को महाभिषक् कहा जाता है। सामान्यतः हम यह समझते हैं कि हम दु:ख से तो छूट जाएँगे, किन्तु सुख को भोगते रहेंगे। योग के अनुसार दु:ख और सुख दोनों ही अज्ञानवश भोगने में आ रहे हैं। ज्ञान होने पर दु:ख नहीं रहेगा

तो सुख भी नहीं रहेगा। भोगासक्त व्यक्ति का चित्त योग का विचित्र अर्थ लगा लेता है। भोगासक्त व्यक्ति समझता है कि योग से दु:ख तो छूट जाएँगे किन्तु सुख बने रहेंगे। जब पतञ्जलि ने सुखों को भी दु:ख ही घोषित कर दिया तो सुख की इच्छा करना ही अज्ञान का सूचक है। हम सुख की इच्छा से दु:ख को ही आमंत्रित करते हैं। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि सत्त्व, रजस् और तसम् तीनों एक साथ रहते हैं। जहाँ सत्त्व है वहाँ रजस् भी है। अत: जहाँ सुख है, वहाँ दु:ख भी है ही।

जीव अज्ञानवश अनन्त काल से दु:ख भोगता रहा है। वे दु:ख अतीत की घटना हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ भी करना संभव नहीं है। पुरुषार्थ उन दु:खों के सम्बन्ध में करना है जो अभी आए नहीं हैं। अतीत के दु:खों की स्मृति वर्तमान को भी दु:खों से भर देती है। बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेह। इस प्रकार चतुर्व्यूह रूप योग शास्त्र का प्रथम निष्कर्ष हुआ कि भविष्य में आने वाले दु:खों का निवारण करना चाहिए।

दूसरा प्रश्न है कि दु:ख का हेतु क्या है। पतञ्जलि कहते हैं कि दु:ख का हेतु द्रष्टा और दृश्य का संयोग है। द्रष्टा पुरुष अर्थात् चेतना है। चैतन्य के बिना देखना या जानना सम्भव नहीं है। साधक का अपना स्वरूप चेतन ही है। हममें से किसी को भी यह प्रतीत नहीं होता है कि हम जड हैं। वस्तुत: जड को तो अपने अस्तित्व का पता ही नहीं होता। हमें अपने अस्तित्व का पता है—यही इस बात का प्रमाण है कि हम चेतन हैं। जितने परिणमन अर्थात् परिवर्तन होते हैं, वे हमारी प्रतीति में आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे सभी परिवर्तन दृश्य में हो रहे हैं। द्रष्टा कभी भी दृश्य नहीं बनता। वह अपने स्वरूप में स्थित अवश्य हो

सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि द्रष्टा पुरुष नहीं है किन्तु बुद्धि के सत्त्वांश में जो पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो बुद्धि चेतना के समान हो जाती है। उस स्थिति में पुरुष को द्रष्टा कहा जाता है। उस समय पुरुष बुद्धि का द्रष्टा बनता है। किन्तु बुद्धि अपने ज्ञेय शब्दादि के रूप में परिणत हो जाती है। अत: बुद्धि के साथ-साथ वे शब्दादि भी दृश्य बन जाते हैं। ये सभी दृश्य पुरुष का स्व अर्थात् भोग्य हो जाते हैं और पुरुष उनका स्वामी अर्थात् भोक्ता हो जाता है। प्रश्न होता है कि बुद्धि ज्ञाता है तो वह ज्ञेय कैसे बन सकती है? उत्तर है कि बुद्धि स्वयं में जड होने से ज्ञाता नहीं है किन्तु वह निर्मल है। अत: उसमें चेतना प्रतिबिम्बित हो जाती है तो वह चेतन प्रतीत होती है। वास्तविक रूप में जड होने के कारण बुद्धि दृश्य है। बुद्धि द्रष्टा नहीं है।

बुद्धि के सुख-दु:ख को अपना मान लेना ही पुरुष का बंधन है। ऐसा इसलिए होता है कि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिस समय पुरुष यह जान लेता है कि बुद्धि जड है और सुख-दु:खादि बुद्धि के ही धर्म हैं, उसके नहीं, उस समय वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार पुरुष के बंधन और मोक्ष बुद्धि के ही अधीन हैं।

बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष द्वारा बुद्धि को ही चेतन मान लेना यद्यपि स्वाभाविक नहीं है तथापि यह अनादिकाल से चला आ रहा है। इस अनादि सम्बन्ध को ही द्रष्टा और दृश्य का संयोग कहा गया है। यह द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध ही दु:ख का हेतु है। इस संयोग का निराकारण ही दु:ख से मुक्ति का उपाय है।

सूत्र—प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥ २.१८॥

अर्थ—दृश्य भूत तथा इन्द्रियात्मक है, प्रकाश, क्रिया और स्थिति उसका स्वभाव है तथा भोग और अपवर्ग (मोक्ष) उसका प्रयोजन है।

व्याख्या

दृश्य का स्वरूप—दु:ख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है—यह बात पहले कही जा चुकी है। अब पहले दृश्य का और फिर द्रष्टा का स्वरूप बताना है। दृश्य कहें या प्रकृति कहें—एक ही बात है। भौतिक विज्ञान प्रकृति का विश्लेषण करता है। योगी भी सम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति के सूक्ष्मतम रूप को जानता है। विज्ञान जहाँ इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन तक पहुँचा, क्वांटम की बात की, वहाँ योग ने भी प्रकृति के तीन घटक खोज निकाले—प्रकाश, क्रिया और स्थिति। प्रकृति चाहे बाह्य हो चाहे आन्तरिक, उसके घटक ये तीन ही हैं। प्रकाश सूक्ष्मतम है, क्रिया सूक्ष्म है और स्थिति स्थूल है। इन तीन को ही क्रमश: सत्त्व, रजस् और तमस् कहा जाता है। जितना ज्ञान है वह सत्त्व के कारण है, समस्त गति रजस् के कारण है तथा स्थिति तमस् के कारण है। मूल प्रकृति में ये तीनों गुण साम्यावस्था में हैं। यह प्रलयावस्था है। सृष्टि होने पर सर्वप्रथम सत्त्वगुण प्रधान होकर महत् अर्थात् बुद्धि को जन्म देता है। इसलिए बुद्धि में प्रकाश अर्थात् ज्ञान की प्रधानता है। यह ज्ञान ही धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का हेतु है। इस बुद्धि से 'मैं' का बोधक अहंकार उत्पन्न होता है, जिससे सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन उत्पन्न होते हैं तथा तमोगुण की प्रधानता होने पर पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। रजोगुण का सहयोग दोनों ही दशाओं में रहता है। मन ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी; क्योंकि इसका सहयोग ज्ञान तथा कर्म दोनों में रहता है। पञ्चतन्मात्राओं से तमोगुण की प्रधानता

होने पर पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन पञ्च महाभूतों से ही समस्त सृष्टि बनती है।

तात्पर्य यह हुआ कि बुद्धि सहित सारी आन्तरिक प्रकृति सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण विषयी अर्थात् ज्ञाता बन जाती है और सारी बाह्य प्रकृति तमोगुण की प्रधानता के कारण विषय अर्थात् ज्ञेय बन जाती है। विशेष बात यह है कि चाहे बुद्धि हो, चाहे घट-पटादि पदार्थ, ये सभी दृश्य हैं। बुद्धि को दृश्य कहते ही यह प्रश्न आ जाता है कि बुद्धि तो ज्ञाता है, उसे द्रष्टा कहना चाहिए, दृश्य नहीं। यहीं पर सांख्य-योग दर्शन हमें सावधान करता है। बुद्धि चेतन है नहीं किन्तु पुरुष के चैतन्य के सान्निध्य से चेतनवत् प्रतीत होती है। चेतनवत् होकर यह सुख-दु:खादि का अनुभव भी करती है जिस सुख-दु:ख को पुरुष, अपने को बुद्धि ही मान लेने के कारण, अपना समझ लेता है। दु:ख होता है रजोगुण के कारण तथा उसका ज्ञान होता है सत्त्वगुण के कारण। इस प्रकार दु:ख और दु:ख का ज्ञान दोनों प्रकृति में हैं, चेतन पुरुष में नहीं। यह विवेक ही हमें दु:ख से मुक्त कर देता है।

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी हैं। इनमें जो गुण अपना कार्य करता है वह गुण उस कार्य का उपादान कारण बन जाता है, तथा शेष दो गुण निमित्त कारण अथवा सहयोगी कारण बनते हैं। प्रत्येक स्थिति में तीनों गुण रहते साथ-साथ ही हैं। उदाहरणत: ज्ञान का कार्य होते समय उपादान कारण सत्त्वगुण होता है तथा रजोगुण सत्त्वगुण को ज्ञान में प्रवृत्त कराने के कारण उसका सहयोगी बन जाता है। तमोगुण भी ज्ञान के बीच-बीच में बुद्धि को विश्राम देकर सहयोगी बनता है। प्रश्न होता है कि बुद्धि के सुख-दु:ख पुरुष के कैसे बन जाते हैं? उत्तर है कि जैसे सेना

की जय-पराजय होती है किन्तु कहलाती राजा की है, उसी प्रकार भोग और मोक्ष भी होते प्रकृति के हैं किन्तु कहलाते पुरुष के हैं। वस्तुतः प्रकृति का प्रयोजन ही भोग और मोक्ष है। यह प्रश्न बारम्बार आता है कि संसार क्यों है? सांख्य-योग का उत्तर है कि संसार इसलिए है कि पुरुष भोग कर सके और मुक्ति पा सके। यद्यपि इष्ट तो मुक्ति ही है, भोग नहीं, तथापि भोग के बिना मोक्ष का पुरुषार्थ ही उत्पन्न नहीं होता। भोग होता है तो दुःख होता है और दुःख होता है तो दुःख से मुक्त होने की इच्छा होती है। साधक किसी भी दर्शन का मानने वाला क्यों न हो, योग तो उसके लिए उपकारी ही सिद्ध होगा। योग सम्प्रदायातीत मार्ग है। इसीलिए सभी सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी मान्यतानुसार न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ योग के मूल साधनों का प्रतिपादन किया है।

सूत्र—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि॥ १.९ ॥

अर्थ—गुणों की (चार) अवस्थायें हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग।

व्याख्या

प्रकृति के चार पर्व—पिछली शताब्दी में विकासवाद की बहुत चर्चा हुई। विकासवाद के इस सिद्धान्त के जनक डारविन माने जाते हैं। सांख्य-योग दर्शन में विकास का एक दूसरा क्रम बताया गया। पहली बात तो यह है कि चेतना में कोई ह्रास-विकास नहीं होता। इसे ही शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार कहा जाता है कि पुरुष अपरिणामी है। समस्त परिणमन प्रकृति में होता है। डारविन क्योंकि भौतिक विज्ञान का आधार लेकर चल रहे थे, अतः उन्हें सब कुछ परिणमनशील अथवा विकासशील ही दृष्टिगोचर हुआ। किसी कूटस्थ-नित्य की अवधारणा

का डारविन के विकासवाद में कोई स्थान नहीं। दूसरी ओर सांख्य-योग की दृष्टि में हम पुरुष हैं, प्रकृति नहीं। इसलिए कोई भी विकास प्रकृति का ही होता है, हमारा नहीं। हाँ, प्रकृति का वह विकास हमारे भोग तथा मोक्ष के लिए ही होता है।

प्रकृति के विकास के चार सोपान हैं, जैसे गन्ने में पोरियाँ होती हैं, प्रकृति के भी चार पर्व हैं। जैसे गन्ने की पोरी जड़ के निकट मोटी होती है तथा जैसे-जैसे शिखर की ओर बढ़ती है वैसे-वैसे पतली होती जाती है, उसी प्रकार गुणों का जो स्वरूप हमें कार्य रूप में दिखायी पड़ रहा है, वह स्थूल है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम उसके कारण की खोज कहते हैं, प्रकृति का सूक्ष्म रूप हमारे सामने आता जाता है और अन्त में हम प्रकृति के उस सूक्ष्मतम रूप तक पहुँच जाते हैं, जो सबका कारण है, किन्तु जिसका कोई कारण नहीं है। सांख्य-योग के अनुसार प्रकृति के विकास के ये चार सोपान हैं, जिन्हें जाने बिना दृश्य का वर्णन पूरा नहीं होता। अतः द्रष्टा का वर्णन करने से पूर्व प्रकृति के इन चार पर्वों का जानना आवश्यक है।

प्रकृति का पहला पर्व स्थूल जगत् है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी प्रकृति का स्थूलतम रूप है। इसी प्रकार श्रोत्र, त्वचा, वाक्, चक्षु, जिह्वा और रसना नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों में सहायक मन—ये हम सबके अनुभव में आते हैं। इतना ही नहीं इन सबमें कभी शांत, कभी घोर तथा कभी मूढ़ भाव भी हमारे अनुभव में आता है। यह सोलह—५ भूत, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन-प्रकृति का विशेष पर्व कहलाता है क्योंकि इनमें सत्व का शांत,

रजस् का घोर तथा तमस् का मूढ़ भाव प्रत्यक्ष गोचर होता है। इसके विपरीत पञ्चतन्मात्राओं तथा अस्मिता में शांत, घोर तथा मूढ़ भाव दिखाई नहीं देता। इसलिए इन्हें अविशेष कहते हैं।

पञ्चतन्मात्रा आकाशादि का शुद्ध रूप है जबकि पञ्च महाभूतों में आकाशादि परस्पर मिश्रित रहते हैं। अपने मिश्रित रूप में ये पञ्चतत्त्व प्रकृति के तीन गुणों के कार्य को अभिव्यक्त करते हैं किन्तु शुद्ध रूप में प्रकृति के गुणों का कार्य अव्यक्त ही रहता है। यह प्रकृति का अविशेष नामक दूसरा पर्व है। प्रकृति का तीसरा पर्व महत् अथवा बुद्धि है। इस महत् तत्त्व से ही अविशेष प्रादुर्भूत होते हैं। ये अविशेष से भी सूक्ष्म है। इस बुद्धि तत्त्व को ही पुरुष अपने प्रतिबिम्ब से चेतनवत् बनाता है। यह बुद्धि ही सुख-दु:खादि का अनुभव करती है, किन्तु वे सुख-दु:खादि लगते पुरुष को अपने हैं—यही अज्ञान है।

प्रकृति का चौथा पर्व प्रकृति की साम्यावस्था है। प्रकृति की यह साम्यावस्था पुरुष के लिए किसी भी काम नहीं आती। अत: इसे असत् भी कहा जाता है, किन्तु यह प्रकृति जिसे मूल प्रकृति कहा जाता है, खरगोश के सींग की तरह अभाव रूप भी नहीं है। अत: इसे सत् भी कहा जाता है। इस प्रकार यह मूल प्रकृति सदसद् विलक्षण कही जाती है। महत् इसी मूल प्रकृति में लीन होता है अत: महत् को लिङ्गमात्र कहा जाता है, किन्तु मूल प्रकृति कहीं लीन नहीं होती अत: उसे अलिङ्ग कहा जाता है।

सूत्र—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥ २.२०॥

अर्थ—द्रष्टा चेतन (प्रकाश) मात्र है। वह शुद्ध होने पर भी चित्तवृत्तियों के अनुरूप देखता है।

व्याख्या

दर्शन द्रष्टा का स्वरूप—दृश्य प्रकृति का स्वरूप बतलाने के बाद अब पतञ्जलि द्रष्टा का स्वरूप बतलाते हैं। द्रष्टा का वास्तविक स्वरूप जान लेने पर समस्त दु:ख स्वत: विलीन हो जाते हैं क्योंकि समस्त दु:खों का मूल यह है कि हमने दृश्य के सुख-दु:खों को द्रष्टा का मान लिया है जबकि द्रष्टा केवल देखने की शक्ति मात्र तथा निर्मल है। फिर भी अज्ञानवश हम चित्तवृत्ति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन की एक दृष्टि है, सांख्य योग की दूसरी तथा वेदान्त की तीसरी दृष्टि है। कहने को ये भिन्न-भिन्न दर्शन हैं किन्तु वस्तुत: यह एक ही सत्य को देखने की तीन दृष्टियाँ हैं। न्याय-वैशेषिक पदार्थों को मुख्यत: प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा देखता है और तर्क द्वारा उनका विश्लेषण करता है। प्रकृति के क्षेत्र में वह परमाणु तक पहुँचा और आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान को आत्मा का गुण माना। सांख्य-योग ध्यान द्वारा देखता है। उसने प्रकृति को त्रिगुणात्मक तथा आत्मा को ज्ञान-स्वरूप माना। यह दृष्टि न्याय-वैशेषिक से अधिक सूक्ष्म है। वेदान्त उस असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति को पारमार्थिक मानता है जहाँ दृश्य लुप्त ही हो जाता है तथा द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वहाँ प्रकृति अथवा दृश्य माया ही बन जाते हैं। पतञ्जलि सांख्य-योग के अनुसार द्रष्टा का विश्लेषण कर रहे हैं। पुरुष देखने की शक्ति है, देखना उसका गुण अथवा धर्म नहीं है। शक्ति स्वयं में शुद्ध है। विकार सब चित्त में हो रहे हैं। किन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब से चित्त भी चेतनवत् प्रतीत होता है तो चित्त के विकारों को पुरुष अपने विकार समझ लेता है। वस्तुस्थिति यह है कि चित्त परिणामी है, पुरुष अपरिणामी है।

पुरुष के प्रतिबिम्ब से जड चित्त चेतनवत् उसी प्रकार हो जाता है कि जिस प्रकार अग्नि के संयोग से लोहे की छड़ भी अग्निवत् ही हो जाती है। उधर पुरुष का अपने को कर्त्ता मान लेना ऐसा ही है जैसे चुम्बक के सान्निध्य-मात्र से गति तो लौह-खण्ड में हो किन्तु चुम्बक समझे कि लौह-खण्ड को वह चला रहा है जबकि वस्तुतः चुम्बक कुछ भी नहीं कर रहा। पुरुष भी चुम्बक के समान नितान्त अक्रिय है किन्तु उसकी सन्निधि मात्र से बुद्धि में क्रिया होती है तो पुरुष उस क्रिया को अर्थात् चित्तवृत्ति को अपनी मान लेता है। ज्ञान सत्त्वगुण का कार्य है। सत्त्वगुण प्रकृति में है। इसी सत्त्वगुण के कारण प्रकृति बुद्धि घट-पटादि पदार्थों का ज्ञान करती है। घट-पटादि पदार्थों का ज्ञान करना पुरुष का काम नहीं। पुरुष तो बुद्धि को ही देखता है। बुद्धि में कदाचित् घट-पट का ज्ञान होता है, कदाचित् नहीं होता। अतः बुद्धि को परिणामिनी कहा जाता है। पुरुष को तो बुद्धि का ज्ञान सदा ही रहता है, अतः पुरुष को अपरिणामी कहा जाता है। सांख्य-दर्शन ने पुरुष और प्रकृति में छह भेद बताए हैं—पुरुष निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी है; जबकि प्रकृति त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है। अभिप्राय यह है कि संसार की रचना करने के लिए प्रकृति का पुरुष की चेतना से प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है, किन्तु पुरुष को प्रकृति के सहयोग की अपेक्षा नहीं है, पुरुष तो स्वयं प्रकाश है। इसी प्रकार प्रकृति कारण-कार्य सम्बन्ध से बँधी है, पुरुष न कारण है न कार्य। इस शास्त्रीय चर्चा को श्रीमद्भगवद्गीता में व्यावहारिक रूप देते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि सभी प्राणियों की उत्पत्ति के लिए प्रकृति मानो माता है किन्तु चैतन्य उसमें पिता के समान गर्भाधान करता है। मनुष्य को बाँधने वाले तो सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। सत्त्व

सुखासक्ति से बाँधता है। रजो गुण कर्मासक्ति से बाँधता है, तमोगुण आलस्य से बाँधता है। जब साधक इन गुणों को ही कर्त्ता रूप में जान लेता है कि गुण ही गुणों में व्यापार कर रहे हैं, तब वह आत्मस्थित हो जाता है। यही गुणातीत स्थिति है, यही स्वरूप स्थिति है।

अर्जुन ने जिज्ञासा की कि गुणातीत व्यक्ति की पहचान क्या है? श्रीकृष्ण ने कहा कि गुणातीत व्यक्ति न गुणों की प्रवृत्ति से परेशान होता है, और न ही उनकी निवृत्ति चाहता है। गुण अपना कार्य रह रहे हैं—ऐसा समझ कर वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता।

सूत्र—तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥ २.२१॥

अर्थ—दृश्य का स्वरूप उस (पुरुष) के लिये ही है।

सूत्र—कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २.२२॥

अर्थ—कृतकृत्य (पुरुष) के प्रति नष्ट होकर भी वह (दृश्य) उससे अन्यों के प्रति समष्टिगत होने के कारण नष्ट नहीं होता।

व्याख्या

प्रकृति का प्रयोजन—द्रष्टा तथा दृश्य शब्द सापेक्ष हैं। यदि कोई देख रहा है तो ही दृश्य को दृश्य कहेंगे और यदि दृश्य को कोई देखने वाला है तो ही उसे द्रष्टा कहेंगे। द्रष्टृ-निरपेक्ष दृश्य और दृश्य-निरपेक्ष द्रष्टा नहीं हो सकता। यही सिद्धान्त पुरुष-प्रकृति के द्वैत का आधार है। पुरुष यदि द्रष्टा है तो दृश्य प्रकृति भी होनी चाहिए और यदि प्रकृति दृश्य है द्रष्टा पुरुष भी होना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि दृश्य ही द्रष्टा नहीं हो सकता। सारी प्रकृति दिखाई दे रही है अतः वह दृश्य है, वह द्रष्टा नहीं हो सकती।

इसी कारण पुरुष की भी सत्ता माननी होगी। सामान्यत: हम मन अथवा बुद्धि को द्रष्टा समझ लेते हैं किन्तु मन अथवा बुद्धि तो हमारे दर्शन का विषय बनते हैं, अत: उन्हें दृश्य ही मानना होगा, वे द्रष्टा नहीं हैं। दृश्य बदलते रहते हैं किन्तु द्रष्टा नहीं बदलता। मन अथवा बुद्धि भी बदलते हैं, अत: उन्हें भी प्रकृति अथवा दृश्य ही मानना होगा।

समस्त दृश्य का प्रयोजन पुरुष के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि है। दृश्य तो जड है और जड का अपना कोई स्वार्थ नहीं हो सकता। हम अपने चारों ओर जड पदार्थों को देखते हैं। मैं कुर्सी पर बैठकर मेज पर कलम से कागज पर लिख रहा हूँ। कुर्सी, मेज, कलम और कागज—ये सब जड हैं। इनका कोई अपना स्वार्थ नहीं हो सकता। प्रयोजन की बात चेतन ही सोच सकता है। मैं चेतन होने के नाते यह जान सकता हूँ कि कुर्सी मेरे बैठने के लिए है, मेज उस पर कागज रखने के लिए है तथा कागज उस पर कलम से लिखने के लिए है। इन जड पदार्थों का प्रयोजन मैं निर्धारित करता हूँ, इसलिए ये सब जड पदार्थ मेरे ही स्वार्थ की सिद्धि करते हैं; इनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जड प्रकृति पुरुष का ही स्वार्थ सिद्ध करने के लिए है, उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है। पुरुष के दो स्वार्थ हैं—भुक्ति और मुक्ति। ये दोनों स्वार्थ प्रकृति से सिद्ध होते हैं, प्रकृति के शब्दादि विषयों में जो अनुकूलता-प्रतिकूलता की प्रतीति होती है, वही पुरुष का भोग है तथा प्रकृति और पुरुष के बीच जो भेदज्ञान होता है वही पुरुष का मोक्ष है। ये दोनों ही प्रकृति कराती है, यही प्रकृति का प्रयोजन है।

भेदज्ञान अर्थात् विवेकख्याति होने पर पुरुष को भोग का प्रयोजन नहीं रहता और मुक्ति का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है। अत: तब प्रकृति

निवृत्त हो जाती है और पुरुष स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। प्रकृति उसी पुरुष के प्रति निवृत्त होती है, जिसे विवेकख्याति अर्थात् भेदज्ञान हो गया और इसलिए उसे प्रकृति से कोई प्रयोजन नहीं रहा। किन्तु जिन्हें विवेकख्याति प्राप्त नहीं हुई उन्हें प्रकृति से अब भी प्रयोजन है। अत: प्रकृति उनके लिए प्रवृत्ति करती रहती है। प्रकृति के निवृत्त होने का अर्थ है कि विवेकख्याति हो जाने पर पुरुष बुद्धि में होने वाले सुख-दु:ख को बुद्धि का ही मानता है, अपना नहीं। इसके विपरीत प्रकृति के प्रवृत्त होने का अर्थ है कि पुरुष बुद्धिगत सुख-दु:ख को अपना मानता रहता है।

निर्गलितार्थ यह हुआ कि एक का अज्ञान दूर हो जाने से सबका अज्ञान दूर नहीं हो जाता। यह कहना कि सबका अज्ञान दूर होने पर तो प्रकृति सर्वथा निवृत्त हो जानी चाहिए, इसलिए ठीक नहीं है कि सबका अज्ञान दूर कभी भी नहीं होगा। पुरुष अनन्त हैं और अनन्त में से अनन्त निकाल लेने पर भी अनन्त ही शेष रह जाता है। कितने ही जीवात्माओं को ज्ञान हो जाए, फिर भी अज्ञानी शेष रहेंगे।

यदि यह कहा जाए कि पुरुष भी प्रकृति के समान एक ही है, तो यह मत श्रुतिसम्मत नहीं है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि संसार रूपी वृक्ष पर दो सुन्दर पंखों वाले तथा समान स्वरूप वाले पंछी बैठे हैं जिनमें एक उस वृक्ष के फल का आस्वादन कर रहा है किन्तु दूसरा केवल उसे देख रहा है, भोग नहीं रहा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति॥

यहाँ स्पष्टतया एक को अज्ञानी भोक्ता तथा दूसरे को ज्ञानी द्रष्टा बताया गया है। यदि पुरुष एक ही होता तो श्रुति ऐसा भेद नहीं करती।

इस प्रकार पुरुष की अनेकता और प्रकृति की नित्यता दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं। यह नित्य प्रकृति पुरुषों की भुक्ति तथा मुक्ति साधती रहती है—यही इसका प्रयोजन है।

सूत्र—स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥ २.२३॥

अर्थ—स्व (दृश्य) तथा स्वामी (द्रष्टा) की शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि ही उनके संयोग के (और अन्ततः) वियोग का हेतु है।

सूत्र—तस्य हेतुरविद्या॥ २.२४॥

अर्थ—उस (संयोग) का हेतु अविद्या है।

सूत्र—तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्॥ २.२४॥

अर्थ—उस (अविद्या) के अभाव से (दृश्य तथा द्रष्टा के) संयोग का अभाव रूप जो नाश है वही द्रष्टा का कैवल्य है।

व्याख्या

पुरुष-प्रकृति का संयोग—पहले द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप बता दिया गया है। अब उन दोनों के संयोग का स्वरूप बतलाना है। यूँ तो प्रकृति भी सर्वव्यापक है और पुरुष भी सर्वव्यापक है। अतः उन दोनों का संयोग नित्य है। किन्तु यह नित्य संयोग संसार का कारण है, व्यक्ति के बन्धन का कारण नहीं। यदि इस नित्य संयोग को ही व्यक्ति के बंधन का कारण मान लेंगे तब तो किसी की मुक्ति कभी होगी ही नहीं। वस्तुतः यहाँ संयोग से अभिप्राय उस अज्ञान से है जिसके वशीभूत पुरुष बुद्धि के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर उस सुख-दुःख का भोक्ता बन जाता है और जैसे ही यह अज्ञान विवेक-ख्याति अर्थात् इस ज्ञान के द्वारा दूर होता है कि पुरुष भिन्न है और प्रकृति भिन्न है, वैसे ही

यह संयोग समाप्त हो जाता है। यह ज्ञान प्रकृति और पुरुष के स्वरूप को जानने से होता है। अतः प्रत्येक पुरुषगत संयोग ही पुरुषार्थ द्वारा दूर किया जा सकता है। पुरुष प्रकृति का साधारण संयोग तो अनादि-अनन्त है।

पहले प्रकृति को दृश्य और पुरुष को द्रष्टा कहा। अब प्रकृति को स्व तथा पुरुष को स्वामी कहा गया है क्योंकि भोग तथा अपवर्ग रूप प्रयोजन पुरुष का ही सिद्ध होता है। अतः पुरुष को स्वामी कहा गया है और यह प्रयोजन प्रकृति से सिद्ध होता है, अतः प्रकृति को स्व (अर्थात् पुरुष जिसका स्वामी है) कहा गया है।

पुरुष में भोक्तृत्व और प्रकृति में भोग्यत्व सदा से चला आ रहा है। यह तब ही समाप्त होता है जब पुरुष और प्रकृति का स्वरूप जान लिया जाए। इस संयोग का समाप्त हो जाना ही कैवल्य है। इनमें प्रकृति का स्वरूप तो सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा और पुरुष का स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा जाना जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि का उत्कृष्टतम रूप प्रकृति को ही जानता है पुरुष को नहीं। किन्तु प्रकृति का ज्ञान भी हेय नहीं अपितु उपादेय है क्योंकि संयोग द्विष्ठ है अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों में रहता है। अतः उस संयोग का वियोग करने के लिए दोनों का ही स्वरूप जानना होता है।

सांख्यदर्शन में कहा गया है कि पुरुष कुछ कर नहीं सकता और प्रकृति कुछ जान नहीं सकती। सृष्टि में कर्म तथा ज्ञान दोनों की आवश्यकता हैं। अतः पुरुष और प्रकृति मिलकर सृष्टि बनाते हैं। इसे पंगु-अन्ध न्याय कहा जाता है। पंगु चलने में असमर्थ है और अन्धा देखने में असमर्थ है। यदि अन्धा पंगु को अपने कंधे पर चढ़ा ले तो दोनों अपने लक्ष्य तक पहुँच जाएँगे, पंगु रास्ता बताता रहेगा और अन्धा उस रास्ते पर चलता

रहेगा। विवेक-ख्याति और विद्या—ये पर्यायवाची हैं और अविवेक तथा अविद्या पर्यायवाची हैं। अविद्या ही पुरुष और प्रकृति में भेद नहीं होने देती। अविद्या के कारण बुद्धि कभी कृतकृत्य नहीं होती अत: वह बार-बार पुरुष से संयुक्त हो जाती है। यही पुनर्जन्म का हेतु है। विद्या से बुद्धि कृतकृत्य होकर निवृत्त हो जाती है अत: फिर उसे पुरुष से संयुक्त होने की आवश्यकता नहीं रहती। यही निर्वाण है। विशेष ध्यातव्य यह है कि विवेक-ख्याति भी एक चित्तवृत्ति ही है। अन्त में यह चित्तवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। इसे ही परवैराग्य कहा जाता है। जब यह चित्तवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है तो चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। यहाँ यह बात समझने योग्य है कि पुरुष अमूर्त्त है। मूर्त्त पदार्थों के संयोग का अभाव तब होता है जब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को छोड़ दे, किन्तु अमूर्त पदार्थ का संयोग मूर्त्त न होकर भावात्मक होता है। अत: पुरुष की अविद्या की निवृत्ति से ही संयोग समाप्त हो जाता है। यही चिति शक्ति का कैवल्य है। संक्षेप में स्थिति यह बनी कि अविद्या से संयोग तथा संयोग से भोग होता है जबकि विद्या से वियोग तथा वियोग से अपवर्ग होता है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि विद्या से संयोग का वियोग होता है अत: विद्या संयोग से वियोग का ही हेतु है। यह वियोग होने पर कैवल्य स्वत: हो जाता है। अर्थात् कैवल्य तो नित्य और स्वत:सिद्ध है, उसे कोई निमित्त नहीं चाहिए। उदाहरणत: मेघों ने सूर्य को ढक लिया है। हवा आयी और मेघ हट गए तथा सूर्य प्रकट हो गया। अब हम यह कहेंगे कि हवा से मेघ हट गए किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि हवा से सूर्य प्रकट हो गया। सूर्य तो स्वत: ही प्रकट है, उसे प्रकट करने के लिए किसी कारण की आवश्यकता नहीं है। अब यदि सूर्य को कैवल्य-

स्थानीय, मेघ को संयोग-स्थानीय तथा विद्या को हवा-स्थानीय मान लें तो स्पष्ट हो जाएगा कि विद्या संयोग का वियोग कर देती है, कैवल्य उसके कारण प्रकट नहीं होता, बल्कि वह स्वत: ही प्रकट है। यदि ऐसा न मानें तो यह सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा कि पुरुष तो सदा ही मुक्त है।

सूत्र—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय:॥ २.२६॥

अर्थ—(उसके अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के संयोग के) नाश का अचूक उपाय विवेकख्याति है।

सूत्र—तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि: प्रज्ञा॥ २.२७॥

अर्थ—उस (विवेकख्याति सम्पन्न) की प्रज्ञा सात सोपान वाली है।

व्याख्या

ज्ञान सुस्थिर कैसे हो—साधक के मन में यह प्रश्न सदा बना रहता है कि शास्त्र पढ़कर अथवा आचार्य से सुनकर उसे यह ज्ञान तो हो गया कि पुरुष तथा प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उसका यह ज्ञान स्थिर नहीं रह पाता, बारम्बार वह फिर बुद्धि के सुख-दु:ख को अपना ही मान लेता है। साधक चाहता है कि उसका यह ज्ञान सदा बना रहे, कभी समाप्त न हो। ऐसा कैसे हो? यही मुख्य प्रश्न है। उत्तर यह है कि शास्त्र से अथवा आचार्य के प्रवचन से होने वाला ज्ञान परोक्ष है और परोक्ष ज्ञान अनादि अविद्या को दूर नहीं कर सकता। अविद्या की जड़ें बहुत गहरी हैं और परोक्ष ज्ञान ऊपरी सतह पर ही रह जाता है। अत: क्षणिक ज्ञान को राजसी और तामसी वृत्तियाँ अभिभूत कर लेती हैं। उपाय यह है कि विवेकख्याति को अपरोक्ष बनाया जाए। यह अपरोक्ष ज्ञान ही अविच्छिन्न रूप से रह कर अविद्या को समाप्त कर सकता है। विवेकख्याति नामक ज्ञान अपरोक्ष कैसे बने, उसी का विस्तार पूरे शास्त्र में है। यदि सुनने

अथवा पढ़ने मात्र से काम चल जाता तो साधना की आवश्यकता ही नहीं थी। विवेक ज्ञान का दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन करना होता है। तदर्थ अविद्या की विरोधी विद्या, अस्मिता के विरोधी भेदज्ञान, राग-द्वेष की विरोधी मध्यस्थता तथा अभिनिवेश के विरोधी सम्बन्ध-ज्ञान की निवृत्ति से समाधि में विवेकख्याति का अपरोक्ष ज्ञान होता है। वही स्थायी भेद-ज्ञान करवाता है, परोक्ष ज्ञान नहीं। अभिप्राय यह हुआ कि केवल श्रवण मात्र पर्याप्त नहीं है, मनन तथा निदिध्यासन भी चाहिए। इस प्रक्रिया से जब चित्त निर्मल हो जाता है, तब चित्त में पड़ने वाले चैतन्य के प्रतिबिम्ब का स्पष्ट भान होता है कि चित्त जड है किन्तु उसमें पड़ने वाले चैतन्य के प्रतिबिम्ब के कारण वह चेतनवत् प्रतीत हो रहा है। यह निरन्तर बनी रहने वाली विवेकख्याति ही धर्ममेघ समाधि कहलाती है।

किसी भी वृत्ति को रजोगुण चलाता है। तमोगुण उसे स्थिर बनाता है। जब रजोगुण और तमोगुण नहीं रहते तो सत्त्वगुण भी उनके बिना चित्तवृत्ति को चलाने में तथा बनाए रखने में असमर्थ हो जाता है। उस समय विवेकख्याति नामक चित्तवृत्ति भी नहीं रह जाती है और केवल पुरुष अपने शुद्ध निर्गुण रूप में अवस्थित रह जाता है। यही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

इस अवस्था तक पहुँचने के लिए प्रज्ञा सात सोपान पार करती है। प्रथम अवस्था है कि हेय को जान लिया कि त्रिगुणात्मक प्रकृति दु:खरूप है, अत: अब कुछ जानना शेष नहीं रहा। दूसरी अवस्था है कि हेय का हेतु तो द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, उसे दूर कर दिया गया अब कुछ भी दूर करने योग्य शेष नहीं रहा। तीसरी अवस्था है कि जिसका साक्षात्कार करना था उस हेय का साक्षात् कर लिया गया। अब कुछ भी साक्षात्करणीय नहीं रहा। चौथी अवस्था है कि ज्ञान के उपाय विवेकख्याति

का सम्पादन कर लिया, अब कुछ सम्पादित करना शेष नहीं रहा। इन चार अवस्थाओं में साधक अपनी बुद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् बुद्धि द्वारा यही हो सकता है, इसके बाद बुद्धि कुछ नहीं कर सकती। यह कार्यविमुक्ति का ज्ञान है। तदनन्तर चित्तविमुक्ति की तीन अवस्थाएँ आती हैं। चित्तविमुक्ति की प्रथम अवस्था यह है कि चित्त ने भोग तथा अपवर्ग रूप फल देने का कार्य कर दिया, अब उसे कुछ भी करना शेष नहीं है। दूसरी अवस्था इस अनुभव की है कि जिस प्रकार पर्वत के शिखर से गिर कर पत्थर पृथ्वी पर आ गिरते हैं और चूर-चूर हो जाते हैं, उसी प्रकार गुण अपना प्रयोजन समाप्त करके अपने कारण में लीन होते जा रहे हैं। तीसरी अवस्था है कि गुणों से अतीत होकर आत्मा अपने शुद्ध निर्मल ज्योति रूप में अवस्थित हो गई। इस प्रकार कैवल्य प्राप्त करने वाले पुरुष की अनुभूतियों को सात भागों में विभक्त करके महर्षि पतञ्जलि ने दिखाया है।

सूत्र—योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये
ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २.२८॥

अर्थ—योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय हो जाने पर विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है।

सूत्र—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि॥ २.२९॥

अर्थ—ये (योग के) आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

व्याख्या

योग के आठ अङ्ग—साधक अनेकानेक शास्त्रों का अनुशीलन

करता है, बड़े-बड़े महात्माओं और विद्वान् पुरुषों का सत्सङ्ग करता है किन्तु न वह अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर पाता है, न मन की चञ्चलता मिटा पाता है और न दुःखों से ही छूट पाता है। अन्ततोगत्वा वह निराश होकर हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है। पतञ्जलि ने ऐसे साधकों के लिए आठ अङ्गों वाले अष्टाङ्ग योग का प्रतिपादन किया है। साधक यदि इन आठ अङ्गों पर विचार करके आत्म-विश्लेषण करेगा तो उसे अपनी विफलता का कारण भी दिखाई दे जाएगा तथा सफलता प्राप्त करने का मार्ग भी मिल जाएगा। यह अष्टाङ्ग योग सारी साधनापद्धति का नवनीत है।

पतञ्जलि कहते हैं कि इस अष्टाङ्ग योग से अशुद्धि का क्षय हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश बढ़ते-बढ़ते विवेकख्याति तक पहुँच जाता है। विवेकख्याति हो जाने पर तो कुछ करना या जानना शेष रहता ही नहीं। अब तक योगसूत्र में ज्ञानमार्ग का वर्णन था, यह तो बताया गया कि जानना क्या है किन्तु यह नहीं बताया गया कि करना क्या है। जो साधक उत्तम कोटि के हैं उन्हें ज्ञान ही कैवल्य तक ले जाता है किन्तु मध्यम कोटि के साधकों के चित्त की अशुद्धि उन्हें स्वरूप में स्थित नहीं रहने देती। अतः उन्हें पहले अशुद्धि दूर करनी होती है। अशुद्धि दूर होने पर विवेकख्याति प्राप्त हो जाती है।

अभिप्राय यह हुआ कि अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का तथा विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कारण नौ प्रकार के होते हैं—१. बीज वृक्ष की उत्पत्ति का कारण है। २. आहार शरीर की स्थिति का कारण है। ३. प्रकाश पदार्थों की अभिव्यक्ति का कारण है। ४. अग्नि चावलों के गला देने का कारण है। ५. धूम अग्नि के ज्ञान का कारण है। ६. अष्टाङ्ग योग विवेकख्याति की

प्राप्ति का कारण है। ७. अष्टाङ्ग योग अशुद्धि के वियोग का कारण है। ८. स्वर्णकार सोने के कुण्डल को गला कर उस सोने से हार बना देने का कारण है। ९. शरीर इन्द्रियों को धारण करने का कारण है। कोई भी कारण उपर्युक्त नौ कारणों में से ही किसी एक प्रकार का या एक से अधिक प्रकार का कारण होता है। अष्टाङ्ग योग छठे और सातवें प्रकार का कारण है। अर्थात् अष्टाङ्ग योग से कोई और अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए, वह दो ही कार्य करेगा—अशुद्धि को दूर कर देगा और विवेकख्याति को प्राप्त करा देगा। यद्यपि योगानुष्ठान से अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ भी स्वतः प्राप्त हो जाती हैं तथापि उन्हें योग का लक्ष्य कदापि नहीं बनाना चाहिए।

अष्टाङ्ग योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें से एक-एक अङ्ग की व्याख्या पतञ्जलि स्वयं अलग-अलग सूत्रों में करेंगे और हम भी उन्हीं सूत्रों की व्याख्या के समय इन पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे। अभी संक्षेप में इतना समझ लेना चाहिए कि यमों के अन्तर्गत साधक के उन व्यवहारों को नियंत्रित करने की चर्चा है जो व्यवहार वह दूसरों के साथ करता है। पारस्परिक व्यवहार सर्वथा छोड़े नहीं जा सकते किन्तु उन व्यवहारों में राग-द्वेष की मात्रा कम करते-करते अन्त में सर्वथा समाप्त की जा सकती है। यही यमों का प्रयोजन है। नियमों में यह बताया जाएगा कि व्यक्ति को अपने शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियों को किस प्रकार तमोगुण तथा रजोगुण के प्रभाव से मुक्त करके सात्विक बनाना चाहिए। यम मुख्यतः सामाजिक है, नियम मुख्यतः व्यक्तिगत है, यद्यपि ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। आसनों में शरीर की चञ्चलता और प्रमाद को दूर

करने की विधि बताई गई है। आसन का सम्बन्ध शरीर से है तो प्राणायाम का संबंध प्राण से है। प्राण हमारी आन्तरिक शक्ति है जो प्राणायाम से पुष्ट होती है। प्रत्याहार इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने की प्रक्रिया है ताकि वे विषयों से मुक्त हो सकें। यहाँ तक के योगाङ्ग बहिरङ्ग कहलाते हैं।

योग के अन्तरङ्ग तीन हैं—धारणा, ध्यान और समाधि। बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इनमें किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सूत्र—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ २.३०॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यम हैं।

व्याख्या

यमों का सामाजिक तथा आध्यात्मिक रूप—यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। वस्तुतः इन यमों की अनुपालना के बिना किसी सभ्य समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यदि योगी इन यमों का पालन नहीं करेगा तो वह योग की अगली सीढ़ियों पर चढ़ नहीं सकता। आज योग के नाम पर कहीं आसन और कहीं ध्यान करवाने के देश-विदेश में अनेक केन्द्र खुले हैं। व्यक्ति समझता है कि आसन से उसका शरीर स्वस्थ रहेगा तथा ध्यान से मानसिक तनाव दूर होकर शांति मिलेगी। यह समझ गलत नहीं है, किन्तु यदि कोई इन नियमों का पालन किए बिना आसन कर रहा है तो वह उस व्यक्ति के समान है जो पहली दो सीढ़ियाँ लाँघ कर सीधी तीसरी सीढ़ी पर चढ़ना चाहता है। ध्यान तो आठ सीढ़ियों में सातवीं सीढ़ी है, पहली छह सीढ़ियों को पार किए बिना सातवीं सीढ़ी पर कूद पड़ना बुद्धिमत्ता नहीं कहलाएगी। महर्षि पतञ्जलि ने बहुत सोच-समझकर योग

के आठ अंगों को एक निश्चित क्रम में रखा है। योग का एक आनन्द है। उस आनन्द में व्यक्ति समाज की उपेक्षा कर सकता है। वह ऐसा न करे इसलिए यमों का विधान है।

यह सच है कि अहिंसादि यमों का एक आध्यात्मिक रूप है, दूसरा सामाजिक। सामाजिकता में पारस्परिकता रहती है, अध्यात्म वैयक्तिक है। उदाहरणतः, सामाजिक पक्ष में अहिंसा का अर्थ होगा कि हम किसी को दुःख न दें। आध्यात्मिक पक्ष में अहिंसा का अर्थ होगा कि हम राग-द्वेष की भावना से मुक्त रहें। गहरे में हम राग-द्वेष की भावना के वशीभूत होकर ही किसी को दुःख देते हैं। यदि हम किसी को दुःख न भी दें, किन्तु राग-द्वेष की भावना से ग्रस्त रहें तो भी इस प्रकार हम आत्म-हनन करने के कारण हिंसक हो जाते हैं। इसी प्रकार सत्य का सामाजिक पक्ष तो यह है कि किसी से झूठ न बोलें, किन्तु आध्यात्मिक अर्थ में सत्य के अन्तर्गत हमें अपने प्रति भी ईमानदार होना होता है। यदि हम वस्तुतः कुछ और हैं और दूसरों को प्रदर्शित कुछ और करना चाहते हैं तो हमारा जीवन सहज नहीं रह जाता। बच्चों में सरलता होती है। अतः उनका व्यक्तित्व दोहरा नहीं होता। आदिवासी भी सहज होते हैं, किन्तु सभ्यता हमारे ऊपर एक मुखौटा चढ़ा देती है। हम अन्दर से किसी से घृणा करते हैं किन्तु ऊपर से उसके प्रति प्रेम प्रकट करते हैं। इस प्रकार हमारे व्यवहार में प्रामाणिकता नहीं रहती। अस्तेय का स्थूल अर्थ तो यही है कि हम किसी का स्व चुराएँ नहीं। सामाजिक दृष्टि से यही महत्त्वपूर्ण भी है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा अधिकार केवल उतने पर है जितने से हमारा जीवन-निर्वाह हो जाता है, उससे अधिक को अपना मानना चोरी है। श्रीमद्भागवत पुराण में कहा गया है कि जितने में पेट भर जाए उतने पर ही मनुष्य का स्वत्व है, उससे अधिक को अपना

मानने वाला चोर है और वह दण्ड्य है—

यावद्भ्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनः।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति॥

ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत व्यापक है। सामाजिक सन्दर्भ में काम-वासना का नियंत्रण ब्रह्मचर्य है, किन्तु आध्यात्मिक अर्थ में ब्रह्म के समान चर्या ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार तथा निर्मल है। उसकी चर्या आत्म-रमण रूप है। यह आत्म-रमण ही आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य है। सामाजिक सन्दर्भ में विद्यार्थी जीवन में ब्रह्म अर्थात् वेद अथवा ज्ञान की उपासना ब्रह्मचर्य है तथा गृहस्थ जीवन में केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए विधिवत् दाम्पत्य सम्बन्ध से जुड़े हुए स्त्री-पुरुषों का सहवास भी ब्रह्मचर्य है। कोई गृहस्थ धर्म का पालन न करना चाहे तो वह आजन्म ब्रह्मचारी अथवा संन्यास में जाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। आध्यात्मिक अर्थ में अपरिग्रह का अर्थ है अनासक्ति। जीवन की स्थिति बनाए रखने के लिए रोटी, कपड़ा, मकान सबको चाहिए, किन्तु इन जीवनोपयोगी पदार्थों के प्रति आसक्ति का भाव रखना परिग्रह है। सामाजिक सन्दर्भ में अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के अतिरिक्त अनावश्यक पदार्थों का संग्रह भी परिग्रह है। इन पाँच यमों के महत्त्व को देखते हुए इनके स्वरूप पर थोड़ी विस्तार से चर्चा करना उपयोगी होगा।

अहिंसा परमो धर्मः—पश्चिम में अथवा भारत में भी योग के प्रति जो नया उत्साह दिखाई देता है, उसमें यम नियमों की ओर कम ही ध्यान दिया जा रहा है। इस प्रकार योग का जो फल होना चाहिए वह पूर्णतः नहीं हो पाता। यमों में प्रथम अहिंसा है। अहिंसा हमें पूरे अस्तित्व से जोड़ती है जबकि हिंसा हमें दूसरों से काट देती है। यजुर्वेद के

चालीसवें अध्याय में एक मंत्र आया कि जो सर्वभूतों को अपने में तथा अपने को सर्वभूतों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

हम अपने को दूसरों से काट कर देखते हैं तो हम कमजोर पड़ जाते हैं। कल्पना करें कि मैं अपने चारों ओर के व्यक्तियों को शत्रु समझ रहा हूँ तो वो भी मुझे शत्रु ही समझेंगे। ऐसी स्थिति में मैं सदा दूसरों से भयभीत रहूँगा। इसके विपरीत यदि मैं सबको अपना मित्र समझूँगा तो सब भी मुझे अपना मित्र समझेंगे। ऐसे में मुझे सब ओर से सहयोग ही मिलेगा। अतः वेद में प्रार्थना की गई कि सब मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं सबको मित्र की दृष्टि में देखूँ—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

योग की साधना में बहुत शक्ति चाहिए। निर्बल व्यक्ति योग की साधना नहीं कर सकता। योगानुष्ठान के लिए अपेक्षित शक्ति अहिंसा तथा मैत्री भावना से ही प्राप्त हो सकती है। हिंसक तथा वैर भावना वाले व्यक्ति की सारी शक्ति तो वैर भावना में ही चुक जाती है फिर वह योगानुष्ठान के लिए शक्ति कहाँ से प्राप्त करेगा?

अहिंसा की भावदशा में जो सद्भाव हमें दूसरों से मिलता है वह बहुत बड़ा सम्बल है। अहिंसक को यदि दूसरों से दुर्भाव भी प्राप्त होता है तो वह उसकी शक्ति को बढ़ाता ही है। अहिंसक का व्रत होता है कि वह किसी के प्रति दुर्भाव नहीं रखेगा। अब यदि कोई उसके प्रति

दुर्भाव रखे तो भी उसे उसके प्रति सद्भाव ही रखना है। दुर्भाव के बदले में दुर्भाव रखने में किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, यह तो मन की यान्त्रिक प्रतिक्रिया है। किन्तु अहिंसक इस यान्त्रिक प्रतिक्रिया के विरोध में जाकर दुर्भाव के बदले में भी सद्भाव ही देता है। इसमें अपरिमित बल चाहिए। अहिंसक इस प्रकार के अभ्यास से अपना मनोबल बहुत बढ़ा लेता है। वह कोई भी कदम प्रतिक्रिया में नहीं उठाता, अपितु उसका प्रत्येक कदम स्वत:स्फूर्त होता है।

हृदय की यह निर्मलता अहिंसक का बहुत बड़ा बल है। अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह केवल शारीरिक कष्ट न देने तक ही सीमित नहीं है। शारीरिक हिंसा से भी अधिक भयंकर वाचिक हिंसा है तो वाचिक हिंसा से भी अधिक घातक मानसिक हिंसा है। हिंसा का जो रूढ़ अर्थ है, वह तो प्रसिद्ध ही है। मांसाहार करने में पशु की हिंसा होती है। युद्धों में अपराधी ही नहीं, निरपराध मनुष्य भी मारे जाते हैं। किन्तु ऐसी स्थूल हिंसा के अतिरिक्त हमारे जीवन के छोटे-छोटे व्यवहार में भी हम दूसरों को कष्ट दे देते हैं।

यदि कोई व्यवसाय करने वाला किसी भी प्रकार का प्रमाद करता है तो दूसरे पक्ष को, जो उस व्यवसाय का लाभ उठाना चाहता है, चोट पहुँचेगी। डॉक्टर का प्रमाद रोगी को, वकील का प्रमाद मुवक्किल को, व्यापारी का प्रमाद खरीददार को चोट पहुँचाएगा। यह सब हिंसा है। हम अपने व्यवसाय में पूर्ण प्रामाणिक तथा जागरूक रह कर ही अहिंसक बन सकते हैं। अहिंसा का यह व्यापक, व्यावहारिक और सामाजिक रूप समझना आवश्यक है। हम जब भी प्रमाद करते हैं तो दूसरे को तो चोट पहुँचाते ही हैं, अपने अन्त:करण को भी मलिन बनाते हैं। इस प्रकार

हिंसा सामाजिक अपराध तो है ही, आध्यात्मिक पाप भी है। अन्त:करण को मलिन बनाना ही वास्तविक पाप है। यजुर्वेद इसे आत्म-हनन कहता है और कहता है कि आत्म-हन्ता गहरे अन्धकार में प्रवेश करता है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

सभी पापों में आत्म-हनन तो होता ही है, अतः एक प्रकार से सभी पाप हिंसा में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसके विपरीत सभी धर्म अहिंसा में समा जाते हैं। इसीलिए अहिंसा को परमधर्म कहा गया है—अहिंसा परमो धर्मः।

सत्य परमात्मा का रूप—मनुष्य के पास अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशेष शक्ति है कि वह भाषा का प्रयोग कर सकता है। मनुष्य जाति के विकास का रहस्य यह है कि वह भाषा के माध्यम से अपना ज्ञान दूसरे को दे सकता है। इस प्रकार एक पीढ़ी अपना ज्ञान अगली पीढ़ी को दे जाती है जो उसमें कुछ और ज्ञान को जोड़ कर अपने से अगली पीढ़ी को दे देती है। इस प्रकार ज्ञान की निरन्तर प्रगति होती रहती है। यह भाषा का ही प्रताप है। स्पष्ट है कि भाषा एक सशक्त उपकरण है। इस उपकरण का प्राणिमात्र के हित में उपयोग करना ही सत्य है। इसके विपरीत प्राणियों के अपघात के लिए भाषा का प्रयोग असत्य है। इस प्रकार सत्य भी अहिंसा का ही अंग बन जाता है। अहिंसा और सत्य मिलकर एक गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—जो सत्य होता है उसी में सबका कल्याण निहित है और जिसमें सबका कल्याण निहित है वही सत्य है। क्या दार्शनिक और क्या वैज्ञानिक, दोनों सत्य की ही खोज में लगे रहते हैं। दार्शनिकों ने एक

सत्य खोजा कि मनुष्य यदि किसी का अपकार करेगा तो उसको स्वयं को भी बदले में दु:ख ही मिलेगा। यह एक दार्शनिक सत्य हुआ। इस सत्य के अनुसार आचरण करने में ही सबका भला है। वैज्ञानिक ने एक दूसरा सत्य खोजा कि परमाणु में बहुत अधिक शक्ति है। अब उस शक्ति का उपयोग हम परमाणु बम बनाकर हिरोशिमा जैसे किसी नगर अथवा प्रदेश का विध्वंस करने में भी कर सकते हैं तथा उसी शक्ति से हम लोकोपयोगी कार्य भी कर सकते हैं। उपर्युक्त दार्शनिक सत्य को यदि विज्ञान के सत्य के साथ मिलाकर देखें तो हमें एक तीसरा सत्य प्राप्त होगा कि परमाणु-शक्ति का उपयोग लोकोपकारी कार्यों के लिए होना चाहिए, विध्वंस के लिए नहीं।

अहिंसा के बिना सत्य अन्धा है और सत्य के बिना अहिंसा अशक्त है। सत्य में बहुत शक्ति है। जब हम सत्यभाषण कर रहे होते हैं तो जो हम कर रहे होते हैं, वही हमारे मन में भी होता है। इस कारण हमारी वाणी में बहुत शक्ति आ जाती है। इसके विपरीत हमारे मन में यदि कुछ और होता है और वाणी से हम कुछ और कहते हैं, तो हमारी वाणी निर्बल हो जाती है। वस्तुत: केवल वाणी ही नहीं हमारा पूरा व्यक्तित्व असत्य भाषण करते समय खण्डित होने के कारण निर्बल हो जाता है। अब तो झूठ को पकड़ने वाला यंत्र भी बन गया है। यह यंत्र इस बात का प्रमाण है कि असत्य किस प्रकार हमारे पूरे व्यक्तित्व को कँपा देता है। सत्य केवल वाणी का प्रयोग ही नहीं है, वह एक अनुसंधान की प्रक्रिया भी है। पदार्थ जैसे ऊपर से दिखाई देते हैं, वैसे ही वस्तुत: नहीं हैं। इस कारण हम जितना गहराई में जाते हैं, उतने नित्य नूतन सत्य प्रकट होते हैं। विज्ञान पहले समझता था कि पदार्थ को तोड़ते जाएँ तो

कोई एक ऐसा ठोस कण मिलेगा जिसे और नहीं तोड़ा जा सकता। इसी कण को अणु कहा गया। अब अणु को भी तोड़ा गया तो पता चला कि विश्व किन्हीं ठोस कणों अर्थात् अणुओं का जोड़ नहीं है अपितु ऊर्जा-समूहों अर्थात् क्वाण्टम से बना है। अब परमाणुवाद सत्य नहीं रहा अपितु क्वाण्टम सिद्धान्त ने उसकी जगह ले ली।

भारतीय दर्शन में भी वैशेषिक परमाणुवादी हैं। किन्तु सांख्य परमाणु के स्थान पर सत्त्व, रजस्, तमस् रूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति को मानता है। सांख्य की यह प्रकृति वैशेषिक के परमाणुवाद की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म है। अभिप्राय यह है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की खोज में निकलते हैं तो नए-नए सत्य उद्घाटित होते हैं। भौतिक विज्ञान प्रयोगों के द्वारा प्रयोगशाला में सूक्ष्म यंत्रों से सत्य की खोज करता है जबकि योगी ध्यान में चित्त की एकाग्रता द्वारा सूक्ष्म सत्यों की खोज करता है। योगसूत्र का सारा वर्ण्य विषय योगियों द्वारा की गई खोज का ही परिणाम है।

सत्य का एक पक्ष यह है कि हम पूर्वाग्रह मुक्त होकर सत्य की खोज करें। यह तब ही संभव है जब हम राग-द्वेष से ग्रस्त न हों। जीवन के व्यवहार में ऐसी अनाग्रहपूर्ण दृष्टि बहुत आवश्यक है। एक व्यक्ति दुराचारी है। यह आवश्यक नहीं कि वह सदा दुराचारी ही रहे। वह सुधर सकता है। अब कोई यदि हमें बताए कि वह सुधर गया है और हम यही आग्रह बनाएँ रखें कि वह दुराचारी ही है, तो हम सत्य को नहीं पकड़ पाएँगे। इसलिए सत्य के लिए खुला दिमाग रखना जरूरी है।

अस्तेय : एक स्वस्थ समाज का चिन्ह—एक ओर यम हैं और दूसरी ओर जीवन की आवश्यकताएँ हैं। इनमें कभी-कभी विरोध भी हो जाता है। रोटी जीवन की मूलभूत आवश्यकता है। आहार के

बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। आहार की प्राप्ति के लिए खेती करनी होती है। खेती करने में हल चलाते समय तथा सिंचाई करते समय अनेक छोटे-छोटे प्राणियों का वध होता है। इस प्रकार अहिंसा और जीवन की आवश्यकता में विरोध आ जाता है। अहिंसा के प्रसंग में ऐसे अनेक अवसर आ सकते हैं। अपने देश की रक्षा के लिए शत्रु से लड़ना पड़ सकता है। अपराधी को समाजहित में दण्डित करना पड़ सकता है। आचार्य विनोबा भावे का अभिप्राय ऐसे ही प्रसंगों से था, जब उन्होंने यह कहा कि हिंसा जीवन के लिए आवश्यक हो सकती है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का गीता में एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है कि अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करते समय हम व्यक्तिगत राग-द्वेष को बीच में न आने दें तो हमें पाप नहीं लगेगा। हमारा लक्ष्य कर्त्तव्य का पालन होना चाहिए, स्वार्थ की सिद्धि नहीं।

प्रश्न होता है कि जिस प्रकार जीवन के अस्तित्व को बनाए रखने की प्रक्रिया में कई बार दूसरों को कष्ट देना पड़ सकता है, क्या उसी प्रकार झूठ और चोरी का भी सहारा लेना पड़ सकता है? हम जानते हैं कि सभी देशों में एक गुप्तचर विभाग होता है। वह देशहित में शत्रु पक्ष के गुप्त रहस्य खोजता रहता है। बिना झूठ बोले अथवा चोरी करे तो गुप्तचर विभाग अपना कार्य कर ही नहीं सकता। युद्ध में भी शत्रु पर छिपकर ही वार किया जाता है। दूसरी ओर प्रेमी-प्रेमिका भी छिपकर मिलते हैं। इसलिए एक उक्ति प्रचलित हो गई है कि प्रेम और युद्ध में सब उचित है। एक कथा यह भी है कि विश्वामित्र ने एक दुर्भिक्ष के समय एक चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुरा कर खाया। चाण्डाल ने विश्वामित्र की चोरी पकड़ ली तो विश्वामित्र ने कहा कि उन्होंने प्राणों

का संकट आने पर ऐसा किया है। यदि प्राण ही चले जाएँगे तो फिर धर्माचरण कैसे होगा। यदि प्राण बचे रहे तो अधर्म का प्रायश्चित्त किया जा सकता है।

हमने यह सब चर्चा इसलिए उठायी कि अनेक बार यह कहा जाता है कि ईमानदारी से काम नहीं चलता। अपने देश में काले धन के लम्बे-चौड़े आँकड़े जब-तब प्रकाशित होते रहते हैं। इनकम टैक्स की चोरी को तो कई लोग चोरी मानते ही नहीं। कहा यह जाता है कि यदि इनकम टैक्स की चोरी न की जाए तो व्यापार करना संभव ही नहीं है। सरकारी कार्यालयों का कार्य बिना रिश्वत दिए चलता ही नहीं—यह बात भी अनेक बार सुनने में आती है।

विचारणीय बिन्दु यह है कि भ्रष्टाचार की दृष्टि से राष्ट्रों की जो सूचियाँ जब-तब सामने आ रही हैं उनमें भारत का नाम बहुत ऊपर रहता है। एक बात और है, जो राष्ट्र भ्रष्टाचार की दृष्टि से हमारी अपेक्षा कम भ्रष्ट हैं, वे सभी राष्ट्र हमारी अपेक्षा कहीं अधिक विकसित हैं। इस तथ्य में से एक निष्कर्ष तो स्पष्टतः निकाला जा सकता है कि भ्रष्टाचार राष्ट्र के विकास में बाधक है। फिर इस तर्क का क्या मूल्य रह जाता है कि भ्रष्टाचार के बिना काम नहीं चलता? और देशों में काम कैसे चल रहा है? हम यह चर्चा अस्तेय के अन्तर्गत कर रहे हैं क्योंकि जिसे हम भ्रष्ट कहते हैं वह सब स्तेय के ही अन्तर्गत आता है।

अहिंसादि शेष यमों के सम्बन्ध में मतभेद है। किन्हीं के मत में मांसाहार गर्हणीय है तो कुछ मतावलम्बी मांसाहार में कोई दोष नहीं देखते। अस्तेय के सम्बन्ध में ऐसा कोई मतभेद नहीं है। वस्तुतः सत्य

और अस्तेय दो ऐसे यम हैं जो नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य तो हैं ही, किन्तु उनका पालन कानून भी आवश्यक मानता है। झूठ बोलना और चोरी करना कानूनी अपराध है।

एक तरह से यह कहा जा सकता है कि अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मुख्यत: व्यक्तिगत हैं किन्तु सत्य और अस्तेय मुख्यत: सामाजिक मूल्य हैं। कानून अहिंसा के अन्तर्गत मनुष्य को मारने को तथा कुछ गौ, मयूर आदि ऐसे पशुओं को मारने को ही अपराध मानता है, जिनका मारना कानून में निषिद्ध है, किन्तु मुर्गा, बकरा आदि को मारना कानून की दृष्टि में अपराध नहीं। इसी प्रकार बलात्कार अथवा विवाह सम्बन्ध से बाहर अब्रह्मचर्य का सेवन ही अपराध है, शेष काम-भोग से कानून को कोई मतलब नहीं और पूँजीवादी व्यवस्था में कितनी भी सम्पत्ति रखने का सभी को अधिकार है, किन्तु जहाँ तक चोरी का प्रश्न है छोटी से छोटी चोरी भी कानून की दृष्टि में अपराध है। चोरी को व्यापक अर्थ में हम भ्रष्टाचार कहेंगे। जब तक भ्रष्टाचार का निवारण नहीं होगा एक स्वस्थ और सुखी समाज का निर्माण नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य : अमृत-तत्त्व—सभी जातियाँ आदि काल से एक ऐसे पेय की चर्चा करती आई हैं जिसको पी लेने पर मनुष्य मरता नहीं। ऐसे पेय को नाम दिया गया—अमृत। ऐसे कलश भी कल्पित किए गए जिनमें अमृत भरा रहता है। वेदों के ऋषियों ने कहा कि हमने सोम रस पी लिया है और हम अमर हो गए हैं। फिर कहा गया कि सोम रस एक लता का रस है। किन्तु वेद के ही ऋषि ने फिर कह दिया कि कुछ लोग एक लता का रस पीकर मान लेते हैं कि उन्होंने सोम रस पिया है किन्तु जो वास्तविक सोम है उसे कोई नहीं चखता—**न तस्याश्नाति कश्चन**।

मृत्यु को जीतने की कामना बहुत पुरानी है। किन्तु सत्य यह है कि आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ जिसको मृत्यु न निगल गई हो। फिर अमृत की खोज का क्या अर्थ है? क्या वस्तुत: अमृत-तत्त्व प्राप्त हो सकता है?

हम मनुष्य की उत्पत्ति पर विचार करें; क्योंकि जन्म और मृत्यु एक ही रस्सी के दो छोर हैं—**जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु: ध्रुवं जन्म मृतस्य च**। यह प्रत्यक्ष गोचर है कि मनुष्य का जन्म माता-पिता के रज और वीर्य के संयोग के बिना नहीं होता। यदि स्त्री-पुरुष अपने इस रज और वीर्य का संयोग न करें तो वह शक्ति जो प्रकृति की सबसे मूल्यवान् कृति मनुष्य को जन्म दे सकती है, क्या करेगी? निश्चय ही वीर्य एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह मनुष्य जैसी कृति को उत्पन्न कर देती है। इस शक्ति को यदि साधक अपने में ही सुरक्षित कर सके तो क्या होगा? केवल स्त्री-संसर्ग से बच कर ही वीर्य सुरक्षित नहीं रह सकता, वह स्वत: भी स्खलित हो जाता है। समस्या उसे सुरक्षित रखने की है? वीर्य एक ऊर्जा है। उस ऊर्जा को स्खलित होने से बचाने के लिए उपाय सोचना है। केवल स्त्री-संसर्ग से बचना पर्याप्त नहीं है। हम जो आहार करते हैं वह रक्त, मांस, मज्जा में परिणत होता हुआ वीर्य में परिणत होता है। किन्तु वीर्य ही आहार की अन्तिम परिणति नहीं है। वीर्य से ओज बनता है। यह ओज वह आभामण्डल है जिसे हम चित्रों में महापुरुषों के सिर के पीछे मण्डलाकार बना हुआ देखा करते हैं। आभामण्डल हम सबके है। यह ओज भी मन में बदल जाता है। अर्थात् वीर्य का सार ओज है और ओज का सार मन है। मन अन्न की अन्तिम परिणति है। इसी प्रक्रिया में से वीर्य को स्खलित होने से रोकने का मार्ग निकलता है।

अन्न से बनने वाले रस से लेकर वीर्य पर्यन्त अन्न के रूप पार्थिव हैं। ओज आन्तरिक्ष्य है तथा मन द्यौ से सम्बद्ध अर्थात् दिव्य है। यदि हम अधिक ओजस्वी बनने का पुरुषार्थ करेंगे तो अधिक मनस्वी बन सकेंगे। अधिक ओजस्वी बनने के लिए अधिक वीर्य अपेक्षित होगा क्योंकि ओज वीर्य से ही बनेगा। हमारी यह ओजस्विता हमारी मनस्विता के निर्माण में काम आ जाएगी। हम जितने मनस्वी होंगे उतने बंधन से मुक्त हो जाएँगे, क्योंकि मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है—**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**। यह मोक्ष ही अमृत-तत्त्व है। वीर्य स्खलित इसलिए हो जाता है कि हम उसका उपयोग ओज के निर्माण में नहीं कर पाते। ऊर्ध्वरेतस् का अर्थ वीर्य को ओज के निर्माण में लगा देना है। यह अन्तर्मुखता के द्वारा सम्भव है। असल में ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रियों को अन्तर्मुख बना देना है। संक्षेप में प्रक्रिया यह होगी। इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हुईं। वीर्य ओज के निर्माण में लग गया। अब वीर्य की ऊर्जा एक रचनात्मक कार्य में लग गई, उसे एक मार्ग मिल गया। ओजस्विता ने मनस्विता को पल्लवित किया। मनस्विता ने चित्त को एकाग्रता दी। चित्त की एकाग्रता से विवेकख्याति हुई। विवेकख्याति से जाना कि मैं पुरुष हूँ , मुझमें कोई विकार नहीं होता, सब विकार प्रकृति के हैं। यह अपनी निर्विकारता का ज्ञान ही साधक को मृत्यु के मुख से छुड़ा देता है। यही अमृत-तत्त्व है। दूसरी ओर वीर्य क्षीण तो ओजस्विता भी क्षीण, ओजस्विता क्षीण को मनस्विता लुप्त। मनस्विता नहीं तो चित्त की एकाग्रता नहीं। चित्त चञ्चल तो दुःखों का आक्रमण। यही मृत्यु है। इसलिए योग का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मचर्य के पालन के बिना असंभव है। योग का यह अन्तिम लक्ष्य है—अमृत-तत्त्व। इसकी प्राप्ति ही ब्रह्मचर्य का लक्ष्य है।

अपरिग्रह : साम्यवाद का भारतीय संस्करण—मनुष्य जाति

के इतिहास के प्रारम्भ में मनुष्य केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए ही अन्नादि का संग्रह करता था। अभी मुद्रा का प्रचलन नहीं हुआ था। पदार्थ के बदले पदार्थ का विनिमय होता था। तब गरीब और अमीर के बीच इतनी गहरी खाई नहीं थी। लोग मोटा खाते थे, मोटा पहनते थे। शारीरिक श्रम जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक था। यह आदिमकालीन साम्यवाद था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की इच्छाएँ बढ़ने लगीं। छीना-झपटी की प्रवृत्ति बढ़ी। समाज श्रम-केन्द्रित न होकर धन-केन्द्रित हो गया। पूँजीवाद का जन्म हो गया। इसके साथ ही धन-संग्रह की बुराइयाँ भी सामने आने लगीं, तो असंग्रह की प्रशंसा की गई। पाया गया कि धन-संग्रह की प्रवृत्ति में लगा मनुष्य अपना सम्मान और ईमान दोनों बेच देता है। और तो और वह धन-संग्रह के पीछे अपने शरीर तक की, जिसके लिए वह धन संग्रह करता है, उपेक्षा कर देता है। तब मनु को कहना पड़ा कि जितने में जीवन-यात्रा चले उतना ही संग्रह करना चाहिए, और वह संग्रह भी ईमानदारीपूर्वक तथा शरीर को अधिक कष्ट दिए बिना करना चाहिए। **यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः। अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्।**

इस श्लोक में अर्थशास्त्रोपयोगी तीन सूत्र आए—आवश्यकता से अधिक संग्रह न करें, अनुचित साधनों से धन न कमाएँ तथा धन के पीछे अपने शरीर की उपेक्षा न करें। प्रश्न है कि आवश्यकता का निर्णय कैसे हो? मनु ने इस सम्बन्ध में जो कसौटी दी वह बहुत कठोर है। वे कहते हैं कि केवल आगे आने वाले एक दिन के लिए अन्न की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि इतना संतोष न हो सके तो तीन दिन की व्यवस्था कर लें। अथवा अधिक से अधिक छह अथवा बारह दिन के लिए अन्न संग्रह किया जा सकता है, किन्तु इससे अधिक के लिए संग्रह की

अनुमति नहीं दी जा सकती—**कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥**

यह भारतीय साम्यवाद की अवधारणा थी जो शायद कभी व्यवहार में पूर्णतः नहीं आ सकी। तब मार्क्सवाद ने बलपूर्वक संग्रह पर नियंत्रण का सिद्धान्त सामने रखा। यह सिद्धान्त भी इसलिए सफल नहीं हो सका कि इसमें अपरिग्रह पर तो बल था, किन्तु अहिंसा की उपेक्षा कर दी गई। हिंसा किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं दे सकती। इन समाजशास्त्रियों के समान्तर एक व्यवस्था योगियों ने भी दी। संन्यासी तो सभी परम्पराओं के संग्रह से विमुख रहते थे—चाहे वे वैदिक परम्परा के हों, चाहे जैन अथवा बौद्ध परम्परा के। ईसाई परम्परा के गृहत्यागी और इस्लाम के फकीर भी असंग्रही होते हैं। आज यदि संन्यासी संग्रह कर रहे हैं तो यह उनकी व्यक्तिगत कमजोरी है, सिद्धान्त तो अपरिग्रह का ही है। योगिजन-सम्मत अपरिग्रह के सिद्धान्त के मूल में यह अवधारणा है कि आसक्ति-मात्र बंधन का कारण है। यह समझ आ जाने पर स्वतः अपरिग्रह फलित हो जाता है। अनासक्तिपूर्वक आवश्यकता से अधिक का संग्रह किया ही नहीं जा सकता। संग्रह कितना किया जाए—इस विषय में एकमत होना कठिन है। किन्तु कुछ विषयों पर सहमति हो सकती है। जो भी पदार्थ हमारे पास हैं हम उनके प्रति आसक्ति का भाव न रखें। हम उन्हीं पदार्थों की प्राप्ति का प्रयत्न करें जो हमारे वास्तविक हित की सिद्धि में साधक हों। हम प्राप्त पदार्थों की सुरक्षा तथा अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति के लिए जो भी साधन बरतें उनमें सत्य और अस्तेय नामक यमों का उल्लंघन नहीं हो। और अन्त में—**पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम। दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम॥** यदि इतना हो सके तो साम्यवाद का भारतीय संस्करण तो साकार रूप ले ही

लेगा, साधक भी अपने लक्ष्य की ओर तेजी से आगे बढ़ सकेगा। शायद इसके अतिरिक्त समस्या का कोई दूसरा समीचीन समाधान है भी नहीं।

सूत्र—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ २.३१॥

अर्थ—जाति, देश, काल तथा समय की सीमा से रहित प्रत्येक अवस्था में पालन किया जाये तो ऐसे व्रत को महाव्रत कहते हैं।

व्याख्या

सांसारिक जीवन और योग—महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक पाँच यमों का वर्णन एक सूत्र में ही कर दिया, किन्तु हमने इन पाँचों यमों की व्याख्या अलग-अलग पाँच शीर्षकों में इसलिए की कि आजकल आसन, प्राणायाम और ध्यान नामक योग के अंग तो बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं, किन्तु यम-नियम नामक योग के अंगों पर उतना बल नहीं दिया जाता जितना कि देना चाहिए। फलतः आजकल जिस योग का प्रचार हो रहा है वह अधूरा योग है और इसलिए उसका अभीष्ट फल भी नहीं मिल रहा। पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के आठों अंगों का निष्ठापूर्वक पालन करने पर योग अवश्य ही इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला है और साथ ही मोक्षप्रद भी है।

फैशन के तौर पर योग को अपनाने वाले लोग एक निश्चित समय में आसन, प्राणायाम तथा ध्यान भी कर लेते हैं किन्तु उस निश्चित समय के अतिरिक्त समय में अपनी जीवन-शैली नहीं बदलते। उनकी शुद्धि गज- स्नान के समान है। जैसे हाथी सरोवर में स्नान करने के बाद सरोवर से निकलकर अपनी सूँड से अपने ऊपर पुनः रेत-मिट्टी डाल लेता है, उसी प्रकार यदि साधक आसन, प्राणायाम और ध्यान के अनन्तर

पुनः राग-द्वेषपूर्ण जीवन जीता है तो उसे जो क्षणिक निर्मलता मिलती है, वह स्थायी नहीं हो पाती।

अहिंसादि पाँच यम कहलाते हैं। यम का शब्दार्थ है—अनुशासन। जिस समाज में यमों का पालन होता है, उस समाज में कानून और व्यवस्था बनी रहती है अन्यथा अव्यवस्था और अशांति फैल जाती है। समाज में अव्यवस्था, अशांति और भ्रष्टाचार व्याप्त हो तो साधक अपनी व्यक्तिगत साधना भी निर्बाध रूप में नहीं कर पाता। अतः यमों का पालन समाज की दृष्टि से भी अपरिहार्य है।

यह कहा जाता है कि सांसारिक व्यक्ति के लिए यमों के पालन की बात करना अव्यावहारिक है। एक गृहस्थ को तो जीविकोपार्जन की प्रक्रिया से गुजरते समय कड़ी प्रतिस्पर्द्धा से गुजरना पड़ता है तथा ऐसे में उसे साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं, वह एक गृहत्यागी के समान क्षमाशील, सत्यवादी, ईमानदार, संयमी और निर्लोभी कैसे हो सकता है? पतञ्जलि एक सांसारिक व्यक्ति की इस समस्या से पूर्णतः परिचित हैं। इसलिए वे कहते हैं कि किसी भी परिस्थिति में यम के नियमों का उल्लघंन करना तो केवल संन्यासी के लिए ही संभव है, जो इन यमों को निरपवाद रूप में स्वीकार करके महाव्रती हो जाता है। इसके विपरीत गृहस्थ इन यमों का सापवाद रूप में ही पालन कर सकता है।

पतञ्जलि ने परिस्थिति को चार भागों में बाँटा—जाति, देश, काल तथा रीति-रिवाज। पतञ्जलि के व्यास भाष्य में एक मछुआरे का उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि योग की परम्परा मछली पकड़ने वाले के लिए भी योग का मार्ग अवरुद्ध नहीं करती। समाज की

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी प्रकार के व्यवसायों की आवश्यकता है। उदाहरणतः प्रत्येक घर में कुछ कूड़ा-करकट होगा तो उसे साफ भी करना होगा। सड़क पर गंदगी होगी तो उसे भी साफ करना ही होगा, अन्यथा सर्वत्र रोग फैल जाएगा।

मछुआरे का उदाहरण लें। वह मछली पकड़ता है, जो कि स्पष्टतः हिंसा का कार्य है। तब वह अहिंसा का पालन कैसे करे? उत्तर में कहा गया कि मछुआरा भी यह नियम ले सकता है कि वह मछली के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी की हिंसा नहीं करेगा। इस प्रकार उसने अपनी हिंसा का क्षेत्र मछली जाति तक ही सीमित कर दिया। इतने मात्र से वह भी सापवाद अहिंसा का पालक हो गया। फिर वह मछली की हिंसा को भी सीमित कर सकता है कि तीर्थस्थान पर वह मछली भी नहीं मारेगा। इस प्रकार देश की अपेक्षा उसकी हिंसा और भी सीमित हो गई। अन्त में वह यह भी नियम ले सकता है कि वह चतुर्दशी आदि पुण्य-तिथियों पर भी मछली नहीं मारेगा। उन दिनों में उसकी हिंसा और भी सीमित हो गई।

सूत्र—शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २.३२ ॥

अर्थ—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।

व्याख्या

योग-साधक की जीवन-दृष्टि—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक यम मुख्यतः पारस्परिक सामाजिक व्यवहार का आधार हैं। हम किसी की हिंसा न करें और कोई हमारी हिंसा न करे तो परस्पर शांति बनी रहेगी। इसी प्रकार पारस्परिक व्यवहार में प्रामाणिकता आदि का व्यवहार समाजोपयोगी है। दूसरी ओर शौच, सन्तोष, तप,

स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नामक पाँच नियम मुख्यत: व्यक्तिगत हैं। यदि हम अकेले हैं तो किसी की हिंसा करने का अथवा किसी को धोखा देने का प्रश्न ही कहाँ से आएगा। अत: यम मुख्यत: सामाजिक है। किन्तु हम अकेले भी शुद्धि रख सकते हैं, सन्तुष्ट हो सकते हैं, तप कर सकते हैं, स्वाध्याय कर सकते हैं और ईश्वर का ध्यान भी कर सकते हैं। निष्कर्षत: नियम मुख्यत: व्यक्तिगत हैं।

प्रथम नियम है शौच अर्थात् शुद्धि। शुद्धि दो प्रकार की है— बाह्य तथा आभ्यन्तर। योग का प्रयोजन तो चित्त की एकाग्रता तथा चित्तवृत्ति का निरोध है किन्तु यदि शरीर की बाह्य शुद्धि न हो तो चित्त भी चंचल तथा व्यग्र बना रहता है। शरीर की शुद्धि में तथा शरीर के सजाने में बहुत बड़ा अन्तर है। शरीर के शुद्ध रहने से व्यक्ति निरोग रहता है तो योगाभ्यास में सहायता मिलती है। अत: शरीर शुद्धि आवश्यक है। शरीर को सजाने की इच्छा शरीर के प्रति मोह की सूचक है जो मोह अविद्या-जनित है। मिट्टी, जलादि से शरीर शुद्ध होता है। मिट्टी, जलादि प्राकृतिक साधन हैं। क्रीम, पाउडर आदि कृत्रिम साधन हैं। प्राकृतिक साधन शरीर को शुद्ध बना कर चित्त को शांत करते हैं। कृत्रिम साधन शरीर के प्रति आसक्ति को बढ़ा कर चित्त को अशान्त बनाते हैं। इन दोनों के भेद को समझना आवश्यक है। शरीर को सजाने के कृत्रिम साधनों से जो शरीर को हानि होती है उसका ब्योरा जब-तब चिकित्सक देते रहते हैं तथा उन साधनों के तैयार करने में जो क्रूरता पशुओं के प्रति बरती जाती है, वह भी यदा-कदा उजागर होती रहती है। शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। योगाभ्यासी को हितकारी सात्त्विक भोजन परिमित मात्रा में लेना चाहिए ताकि शरीर में भारीपन न आए। यह भी बाह्य शुद्धि का अंग है। जो कमाई ईमानदारीपूर्वक अर्जित की जाती है, उससे क्रीत भोजन योग

में बहुत सहायक है। भोजन बनाने वाला आनन्दपूर्वक भोजन बनाए तथा भोजन करने वाला भोजन आनन्दपूर्वक करे। यह भी आहार-शुद्धि का महत्त्वपूर्ण अंग है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा माध्यस्थ्य भाव आन्तरिक शुद्धि के साधन हैं। इन साधनों से मद, मान, असूया आदि चित्त के मल प्रक्षालित होते हैं। शौच के अनन्तर संतोष का स्थान आता है। संतोष का अर्थ है कि जो प्राप्त है उसमें पूर्ण प्रसन्नता का भाव रखना। योगाभ्यासी को यह विश्वास होना चाहिए कि उसके कल्याण के लिए जितना आवश्यक है वह उसे अनायास ही प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में उसे अधिक प्राप्ति की लिप्सा नहीं करनी चाहिए। जो वर्तमान से असंतुष्ट है, वह सदा ही असन्तुष्ट रहेगा। असन्तोषी स्वभाव के व्यक्ति को यह आभास ही नहीं मिल पाता कि उसके चारों ओर प्रकृति ने कितना वैभव बिखेर रखा है। सूर्योदय का सौन्दर्य तथा शीतल मन्द समीर का स्पर्श उसे प्रतीत ही नहीं हो पाते। उसे हीरे, मणि, माणिक्य ही मूल्यवान् लगते हैं जो कि वस्तुत: पाषाण खण्ड हैं।

सन्तोष के अनन्तर तप आता है। सन्तोष जो प्राप्त है उसमें प्रसन्न रहने का नाम है, किन्तु तप जो प्राप्त है उसे भी न भोगने का नाम है। तप के बाद स्वाध्याय का नियम आता है। स्वाध्याय वेद के अध्ययन का नाम है। योग के प्रसंग में मोक्षशास्त्र का अध्ययन भी स्वाध्याय है। ओङ्कार का जप भी स्वाध्याय है। अपने स्वरूप का चिन्तन करना भी स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधान अन्तिम पाँचवाँ नियम है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है सभी कर्मों के फल को ईश्वरार्पण कर देना। योगशास्त्र में ज्ञान के

अतिरिक्त भक्ति का भी महत्त्व है। यह इसकी सांख्य-दर्शन से विशेषता है। सांख्य-दर्शन में ईश्वर का स्थान नहीं है। वह विशुद्ध ज्ञान मार्ग है। योग में ईश्वर का पूरा स्थान है।

सूत्र—वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ २.३३॥

अर्थ—(यम-नियम में) वितर्क द्वारा बाधा पड़ने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।

सूत्र—वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ २.३४॥

अर्थ—स्वयं किये, दूसरों से कराये, अनुमोदित तथा लोभ, क्रोध, मोहपूर्वक की गयी हिंसादि वितर्क हैं जो मृदु, मध्य तथा तीव्र होते हैं? उनकी प्रतिपक्ष भावना यह है कि वे दुःख तथा अनन्त अज्ञान देने वाले हैं।

व्याख्या

साधक मार्ग पर दृढ़ कैसे रहे—यद्यपि साधक यम-नियम के पालन का संकल्प कर लेता है, किन्तु अनेक अवसर ऐसे आते हैं कि उसका संकल्प खण्डित होने लगता है। हम कितना ही अहिंसा का पालन करना चाहें किन्तु कोई न कोई व्यक्ति कभी न कभी हम पर मिथ्या आरोप लगा देता है तो क्रोध आ ही जाता है। कभी-कभी कोई हमसे ऐसी बेतुकी अपेक्षा करता है अथवा हमें ऐसा तर्क-विरुद्ध आदेश देता है कि हम उसके प्रति क्रोध से भर जाते हैं। कोई कभी हमारी अकारण ही अपूरणीय क्षति कर देता है। ऐसे में मैत्री भाव बनाए रखना

कठिन हो जाता है। इसी प्रकार कभी थोड़ा सा झूठ बोल देने पर इतना अधिक लाभ होता दिखाई देता है कि झूठ बोलने का प्रलोभन छोड़ा नहीं जाता। विश्वामित्र जैसे तपस्वी भी मेनका का सौन्दर्य देखकर विचलित हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि यम-नियमों की साधना में पद-पद पर बाधाएँ हैं।

ऐसी बाधा आने पर यह वितर्क चलता है कि अमुक जब हमारे प्रति इतना क्रूर हो गया हो तो हम उसके प्रति मैत्री भाव कैसे रख सकते हैं? कभी-कभी ऐसा वितर्क भी आता है कि अब तो झूठ बोले बिना काम ही नहीं चलेगा। कभी विचार आता है कि भविष्य में नियम का पालन कर लेंगे, किन्तु आज तो इस नियम के बिना ही चलने दो। पतञ्जलि कहते हैं कि जब भी ऐसे तर्क-वितर्क साधक के सामने आएँ तो वह उन वितर्कों के विरोधी तर्कों की भावना करने लगे, किन्तु बाधा के सामने हार न माने। एक नियम लिया और उसका उल्लंघन कर दिया तो इससे इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। इच्छाशक्ति की निर्बलता आध्यात्मिक क्षेत्र में तो क्या, सांसारिक क्षेत्र में भी सफल नहीं होने देती। अतः किसी भी परिस्थिति में स्वीकार किए गए नियम का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति में भी नियम का उल्लंघन न करने से इच्छाशक्ति दृढ़ होती है, आत्मविश्वास बढ़ता है। यह आत्मविश्वास ही सब क्षेत्रों में सफलता का मूल है।

पहला वितर्क यह आ सकता है कि मैं स्वयं हिंसा न करूँ किन्तु दूसरे से करवा दूँ अथवा कोई हिंसा करता हो तो उसका अनुमोदन करूँ ताकि वह हिंसा करने के लिए उत्साहित हो। इस प्रकार मैं अहिंसा का पालक भी बना रहूँगा और शत्रु का नाश भी हो जाएगा। पतञ्जलि कहते

हैं कि हिंसा स्वयं की जाए अथवा दूसरे के द्वारा करवाई जाए अथवा चाहे दूसरे के द्वारा की जाने वाली हिंसा का अनुमोदन ही क्यों न किया जाए, तीनों स्थितियों में व्रत भंग ही होता है। हिंसा केवल क्रोधवश ही नहीं होती, लोभवश भी हिंसा की जाती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण उस राष्ट्र की सम्पदा लूटने के लिए करता है तो वहाँ क्रोध नहीं, लोभ ही कारण होता है। मोहवश भी हिंसा होती है। देखने में आता है कि किसी स्त्री को डायन मानकर उसे उत्पीड़ित किया जाता है। यह मूढ़ता का परिणाम है। पशुबलि में धर्म मानना भी मूढ़ता का परिणाम है। वस्तुत: तो प्रत्येक पाप के पीछे मूल कारण मूढ़ता अथवा यह अज्ञान ही होता है कि या तो हम पाप को श्रेयस्कर मान लेते हैं या फिर यह मान लेते हैं कि पाप से होने वाला लाभ तो हमें मिल जाएगा किन्तु पाप के फलस्वरूप मिलने वाले दु:ख से हम बच निकलेंगे। पतञ्जलि कहते हैं कि पाप के फल से बच पाना असंभव है। अत: पाप का भाव मन में आने पर तत्काल यह भावना करनी चाहिए कि इस पाप का फल दु:ख होगा। इतना ही नहीं पाप करने से हमारा अज्ञान पुष्ट होता है और अज्ञान के पुष्ट होने पर हम पुन: पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। अत: एक पाप पापों की अनन्त शृंखला को जन्म देता है। पाप से अज्ञान और अज्ञान से पाप—इस प्रकार इस परम्परा का कोई अन्त नहीं आता।

जिस प्रकार विष थोड़ी मात्रा में भी ग्राह्य नहीं है, उसी प्रकार छोटे से पाप से भी बचना चाहिए। फिर एक पाप दूसरे पाप को जन्म देता है। पाप का फल दु:ख है।

सूत्र—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ २.३५॥

अर्थ—अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उस (अहिंसक) के निकट वैर छूट जाता है।

सूत्र—सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ २.३६॥

अर्थ—सत्य प्रतिष्ठित होने पर उस (सत्यवादी) की क्रिया फल का आश्रय बनती है। (अर्थात् सफल होती है।)

सूत्र—अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ २.३७॥

अर्थ—अस्तेय प्रतिष्ठित होने पर सारे रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

सूत्र—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ २.३८॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने पर वीर्य का लाभ होता है।

सूत्र—अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः॥ २.३९॥

अर्थ—अपरिग्रह की स्थिरता होने पर यह ज्ञान हो जाता है कि जन्म कैसे हुआ अर्थात् पूर्व, वर्तमान और भविष्य के जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या

यमों के पालन का फल—योग के आठ अंगों में से प्रथम दो—यम तथा नियम का वर्णन कर दिया गया। अब क्रम प्राप्त तृतीय अंग 'आसन' का वर्णन करना चाहिए था किन्तु उससे पूर्व पतञ्जलि यम और नियम के पालन से प्राप्त होने वाली विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं। वैदिक धर्म की यह विशेषता है कि वह नि:श्रेयस के साथ-साथ अभ्युदय की सिद्धि की भी चर्चा करता जाता है। योगाभ्यासी अहिंसादि व्रतों का पालन करके निर्बल और निर्धन हो जाए, यह वैदिक धर्म का आदर्श नहीं है। योगाभ्यास किया जाता है नि: श्रेयस की सिद्धि के लिए, किन्तु उससे अभ्युदय भी स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इस अभ्युदय को विभूति कहा जाता है। ऐसा समझना चाहिए कि खेती तो अनाज के लिए

ही की जाती है किन्तु उसके साथ ही भूसा स्वयं पैदा हो जाता है। कृषक की दृष्टि अनाज पर है, भूसा उसका बाई-प्रोडक्ट है। अब तक पतञ्जलि निःश्रेयस की चर्चा करते रहे क्योंकि वही मुख्य है, अब वे आनुषङ्गिक रूप से मिलने वाली सिद्धियों का भी उल्लेख करना प्रारम्भ कर रहे हैं। योगी को इन सिद्धियों में उलझ नहीं जाना चाहिए और न ही इनका प्रदर्शन करना चाहिए। हर योगी को ये सिद्धियाँ प्राप्त हो ही जाएँ, ऐसा आवश्यक नहीं है। अतः यदि किसी को सिद्धि प्राप्त न भी हों तो वह निराश न हो और यदि प्राप्त हो जाएँ तो अभिमान न करे। योग का वास्तविक फल तो चित्त की एकाग्रता तथा चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा स्व-स्वरूप में स्थित होकर आवागमन के चक्र से छुटकारा पाना है। भीड़ जुटाने के उद्देश्य से जो कुछ लोग झूठी-सच्ची सिद्धियों का प्रदर्शन करते हैं उनमें अनेक लोगों के बारे में यह तथ्य सामने आये कि वे जादूगर के समान हाथ की सफाई से चमत्कार जैसा दिखा देते हैं, उन्हें वस्तुतः कोई सिद्धि मिली नहीं है। ऐसे लोगों के कारण योग का अपयश फैलता है, साधक को तो ऐसे व्यक्ति से सावधान ही रहना चाहिए जो कोई चमत्कार दिखलाने का दावा करे, क्योंकि यदि वस्तुतः किसी को कोई सिद्धि मिल भी गई तो शास्त्र उसके प्रदर्शन का निषेध करते हैं। अतः कोई भी सच्चा योगी शास्त्राज्ञा के विरुद्ध जाकर सिद्धि का प्रदर्शन क्यों करेगा? बड़ी सिद्धियाँ हैं—व्यवहार की पवित्रता, चित्त की एकाग्रता और शान्ति, संकल्प-विकल्प की क्षीणता, सबके प्रति प्रेमभाव, राग-द्वेष मुक्ति, हर परिस्थिति में सम-भाव रखना, कर्त्तव्य-पालन में अप्रमाद, विनम्रता, ऋजुता, सहिष्णुता तथा अलोलुपता। इन सिद्धियों के लिए सतत प्रयास करना चाहिए।

इस पृष्ठभूमि के साथ योगशास्त्र में वर्णित विभूतियों के विज्ञान

को अवश्य समझना चाहिए। जैसे द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है, प्रेम से प्रेम। यह एक सीधा सा मनोविज्ञान का अनुभव-सिद्ध नियम है। अब यदि कोई किसी के प्रति द्वेष नहीं करेगा तो सामान्यतः दूसरे भी उससे द्वेष नहीं करेंगे। यह अहिंसक होने का फल हुआ। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। फिर भी कुछ लोग बाणभट्ट के शब्दों में 'अकारणाविष्कृतवैरदारुण' अर्थात् बिना कारण ही वैर किया करते हैं। प्रश्न है कि हमारा प्रेम कितना प्रगाढ़ है। प्रगाढ़ प्रेम का प्रत्युत्तर पशु-पक्षी और पाषाण तक देते हैं। वेद में पाषाणों को सम्बोधित करके कहा गया कि हे पाषाणो! सुनो—**शृणुत ग्रावाणः**। इसका यह अर्थ है कि पत्थर भी प्रत्युत्तर देते हैं। पशुओं का प्रत्युत्तर तो कुत्तों तथा घोड़ों की वफादारी में अनेक बार देखने में आता ही है। वनस्पति भी प्रत्युत्तर देती है, यह बात आज विज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। इसी कारण अहिंसक योगी हिंसक जन्तुओं से भरे बियाबान जंगलों में अकेले रह लेता है किन्तु उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। पूरी प्रकृति उसके प्रेम के प्रत्युत्तर में उसकी रक्षा ही नहीं करती, उसकी आवश्यकताएँ भी पूरी करती है। यदि वह महीनों भोजन न ले तो भी धूप और हवा ही उसे ऊर्जा प्रदान करके निर्बल नहीं होने देती। यह अहिंसा की प्रतिष्ठा का फल है।

मनुष्य के पास एक ऐसी शक्ति है जो अन्य किसी के पास नहीं है। वह सार्थक वाणी का प्रयोग कर सकता है। इस शक्ति का प्रयोग यदि हितमित रूप में किया जाए तो वह वाक् शक्ति इतनी बलवती हो जाती है कि सत्यवादी जो कह देता है वही सचमुच हो जाता है। यही शाप तथा वरदान देने की शक्ति है। इसका वैज्ञानिक आधार है। वाक् एक तरंग है। पदार्थ भी एक तरंग है। वाक् अग्नि-रूप है, पदार्थ शीतल है। वाक् की तरंग सरस्वती है, पदार्थ की तरंग लक्ष्मी है। वेद कहता है कि

ऋषि की वाणी में लक्ष्मी रहती है। अर्थ यह हुआ कि यदि वाक् की तरंग बलवती होगी तो वह पदार्थ की तरंग को जन्म दे देगी और वाणी की वह तरंग पदार्थ में बदल जाएगी। इस प्रकार सत्यवादी की पुष्ट वाक्-तरंग पदार्थ में यथेच्छ परिवर्तन कर देगी। यही शाप-वरदान देने की शक्ति है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का फल है—समस्त रत्नों की लब्धि। विचार करें कि क्या कोई पदार्थ ऐसा है जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के मेल से न बना हो। क्या ये पाँच तत्त्व मेरे हैं? फिर इन पाँच तत्त्वों से बने पदार्थ ही मेरे कैसे हो गए? जो मेरा नहीं उसे अपना मान लेना ही तो चोरी है। निष्कर्षतः यदि किन्हीं भी पदार्थों को मैं अपना समझता हूँ तो यह सूक्ष्म रूप में चोरी ही हुई। अब यदि किसी पदार्थ को मैं अपना न मानूँ—अपने पंच भौतिक शरीर को भी अपना न मानूँ—तो यह अस्तेय हुआ। अब जब मेरा कुछ भी नहीं रहा तो सभी कुछ मुझे मिल गया। ऐसे समझें—एक व्यक्ति के एक करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं, वह उन्हें अपना मान रहा है किन्तु वे उसके हैं नहीं। हैं वे मेरे भी नहीं। बात मानने की है सो अज्ञान का अंश है। मैं उन एक करोड़ रुपयों को ही क्यों संसार भर की सम्पत्ति को अपनी मान लूँ तो मुझे कौन रोकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि है हमारा कुछ भी नहीं, कस्य स्विद्धनम्? अज्ञान में मानना ही है तो थोड़ी सी क्यों सारी सम्पत्ति को ही अपनी मान लूँ। सम्पत्ति तो वसुन्धरा में बिखरी ही पड़ी है। रहा प्रश्न भोगने का, सो भोगता तो मनुष्य उतना ही है जितना वह भोग सकता है। एक अमीर भी मधुमेह के रहते मिठाई नहीं खा सकता, मजदूर भी होली-दीवाली पर मन भर कर मिठाई खा लेता है क्योंकि वह निरोग है। भोगना पदार्थ की उपलब्धि पर इतना निर्भर नहीं है, जितना भोगने की सामर्थ्य और भोगने

के विवेक पर निर्भर है। भागवत में चोर की एक परिभाषा दी कि जितने में पेट भर जाए मनुष्य का तो उतना ही स्वत्व है, जो उससे अधिक को अपना मानता है, वह चोर है और दण्ड का पात्र है। योगी के पेट भरने की चिन्ता प्रकृति करती है और शेष को वह अपना मानता नहीं। यही अस्तेय व्रत से समस्त रत्नों की उपलब्धि है।

ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ तो प्रत्यक्षगोचर ही है। ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ के उदाहरण इतिहास में अनेक मिलते हैं। हनुमानजी का समुद्र-लंघन, भीष्म पितामह का इच्छा-मरण और स्वामी दयानन्द सरस्वती का चार घोड़ों की बग्घी को रोक लेना सब ब्रह्मचर्य से वीर्यलाभ के उदाहरण हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल अविवाहित रहना नहीं है। योगी अपनी शक्ति को किसी एक कार्य में केन्द्रित करके नियोजित करना जानता है। अङ्गद ने अपनी शक्ति पाँव पर केन्द्रित कर दी तो रावण के दरबार में कोई उनका पाँव नहीं हिला सका।

अपरिग्रह का फल है पूर्वजन्म-जन्मान्तरों की स्मृति। हम मृत्यु के समय दुःख के कारण मूर्च्छा में चले जाते हैं। अतः नए जन्म में हमें अपना पिछला जन्म याद नहीं आता। अपरिग्रह अमूर्च्छा का नाम है। जो अपरिग्रही है उसे मृत्यु के समय यह भय मूर्च्छित नहीं करता कि उसका सब कुछ, उसका शरीर तक, छूटने जा रहा है। उसने तो अपने शरीर को भी कभी अपना नहीं माना था। जो अपना है ही नहीं उसे छोड़ने में क्या दुःख मानना। दुःख नहीं तो मूर्च्छा नहीं। मूर्च्छा नहीं तो स्मृति बनी रहती है। यही स्मृति आने वाले जन्म में इस जन्म की याद दिला देती है।

ये पाँच यमों के पालन करने के फल हैं। ये कोई चमत्कार नहीं,

शुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं। योग कोई अन्धविश्वास नहीं है, अपितु एक विज्ञान है। आज जो योग एक अन्धविश्वास अथवा अलौकिक चमत्कार के रूप में अधिक प्रसिद्धि पा गया है, उसका कारण उसके पीछे छिपे विज्ञान के ज्ञान का अभाव है। उस विज्ञान का मूल सूत्र यह है कि मन की शक्ति अनन्त है।

सूत्र—शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ २.४०॥

अर्थ—शौच से अपने अङ्गों से जुगुप्सा तथा दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है।

सूत्र—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानि च॥ २.४१॥

अर्थ—तथा (शौच से) चित्त की शुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मदर्शन की योग्यता होती है।

सूत्र—सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥ २.४२॥

अर्थ—सन्तोष से सर्वोत्तम सुख मिलता है।

सूत्र—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ २.४३॥

अर्थ—तप से अशुद्धि के दूर होने पर शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

सूत्र—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥ २.४४॥

अर्थ—स्वाध्याय से इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है।

सूत्र—समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ २.४५॥

अर्थ—ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या

नियमों के पालन का फल—जिस प्रकार यमों के पालन से मिलने वाले फलों का वैज्ञानिक आधार है उसी प्रकार नियमों की अनुपालना से मिलने वाले फल भी तर्कसङ्गत हैं। उदाहरणतः प्रथम शरीर शुद्धि का नियम देखें। शरीर प्रकृति से बना है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। वस्तुतः शुद्ध तो त्रिगुणातीत पुरुष ही है किन्तु प्रकृति के सन्दर्भ में शुद्धि का अर्थ होगा तमोगुण तथा रजोगुण की न्यूनता एवं सत्त्वगुण की प्रधानता। यह आन्तरिक शुद्धि की बात हुई।

बाह्य शुद्धि के अन्तर्गत तो स्वेद, मल, मूत्रादि का परिमार्जन आता है। अत्यन्त सावधानीपूर्वक यह शुद्धि करने पर भी शरीर से हर समय स्वेद आता ही रहता है। शरीर के सभी छिद्रों से जो स्राव निकलता है, वह गर्हित ही है। आँखों से गीढ़, कान से मैल, नाक से रीट, मुख से थूक—यह शरीर का रूप है। ऐसे में ऐसी काया से कौन मोह करेगा? जब अपनी ही काया से मोह नहीं तो दूसरे के शरीर से कौन मोह करेगा? निरन्तर पानी से शुद्ध करते रहने पर भी शरीर अशुद्ध ही रहता है—यह प्रतीति साधक की शरीर के प्रति आसक्ति छुड़ा देती है। जब अपने शरीर के प्रति ही आसक्ति नहीं रही तो दूसरों के शरीर से संसर्ग की इच्छा कैसे होगी। निष्कर्ष यह है कि शरीर शुद्धि का फल अपने तथा दूसरों के शरीर के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाना है।

संतोष से सर्वोत्तम सुख मिलता है। जो है वही पर्याप्त से अधिक है, इससे अधिक की मुझे आवश्यकता नहीं, ऐसा भाव संतोष है। असंतोष में हम भविष्य में मिलने वाले सुख की कल्पना में कभी वर्तमान का आनन्द ले ही नहीं पाते। इसलिए असंतोषी सारे वैभव के बीच भी

दुःखी रहता है। प्रश्न होता है कि साधक की मूलभूत आवश्यकताएँ तो पूरी होनी ही चाहिए। यदि उसे रोटी भी न मिले तो वह संतुष्ट कैसे रह सकता है? इसका उत्तर तप में है। तप के अन्तर्गत साधक अपनी मौलिक आवश्यकताओं को भी छोड़ देता है। जिन्हें हम अपनी मौलिक आवश्यकताएँ समझते हैं, वे वस्तुतः हमारी आवश्यकताएँ नहीं हैं, अपितु हमारे शरीर अथवा मन की आवश्यकताएँ हैं। क्योंकि हम अपने को शरीर ही मान बैठे हैं इसलिए शरीर की आवश्यकता हमें अपनी आवश्यकता लगती है। वस्तुतः आत्मा की तो कोई आवश्यकता है ही नहीं, वह तो अपने में सदा ही परिपूर्ण है—**रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः**। हम जिसे शरीर की भी आवश्यकता मान लेते हैं, वह भी बहुत बार हमारा भ्रम होता है। शरीर को भोजन चाहिए किन्तु जितना भोजन शरीर को चाहिए, हम स्वाद के वशीभूत होकर उससे कहीं अधिक भोजन कर लेते हैं। यह अधिक भोजन शरीर के लिए अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी है। अतः मुख्य तप स्वादुता पर नियंत्रण करना है।

चौथा नियम स्वाध्याय है। पतञ्जलि कहते हैं कि स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है। पण्डित विश्वनाथ श्रौती श्रौतयज्ञों के करवाने में अत्यन्त दक्ष थे। वे एक सोमयाग करवा रहे थे तो उनसे पूछा गया कि आप इतना वेदपाठ करते हैं, क्या आपको कभी किसी देव का दर्शन हुआ। उन्होंने कहा कि जो दिख जाए वह देव नहीं है। देव दिखते नहीं हैं, उनका अनुभव होता है।

श्रुति कहती है कि 'नरो वै दैवानां ग्रामः' अर्थात् मनुष्य देवों का समूह है। तात्पर्य यह है कि देव मनुष्य में निवास करते हैं। मनुष्य यदि स्व का अनुशीलन करेगा तो उसे अपने में अधिष्ठित देवों का अनुभव होगा। अग्निदेव वैश्वानर के रूप में, वायु तैजस के रूप में तथा आदित्य

प्राज्ञ के रूप में मनुष्य में विराजमान हैं। मनुष्य अपने अन्दर ही इन देवों का साक्षात्कार कर सकता है।

जब स्व में देवों का अनुभव होता है तो साधक दिव्य हो जाता है। यह दिव्यता उसे निरहङ्कार बना देती है। मेरा क्या है, सभी देवों का प्रसाद है—यह भाव साधक में अहङ्कार और ममत्व को समाप्त कर देता है। यही ईश्वरार्पण का बिन्दु है। पतञ्जलि कहते हैं कि ईश्वरार्पित होने का फल समाधि की सिद्धि है। मैं हूँ तो मेरी इच्छाएँ हैं, मेरे सङ्कल्प-विकल्प हैं, मैं हूँ ही नहीं तो फिर समाधि की सिद्धि में बाधा ही क्या है।

योग का चरम लक्ष्य स्वरूप में अवस्थित होना है। नियमों में, क्रमशः पहले शुद्धि के कारण शरीर के प्रति आसक्ति हटी तो शरीर से चित्त विरक्त हुआ। आन्तरिक शुद्धि से मन की एकाग्रता सधी। तप से अशुद्धि का क्षय हुआ। तब स्व का शुद्ध रूप प्रकट हुआ। अन्त में विवेकख्याति द्वारा प्रकृति में अहं बुद्धि गई और स्वस्वरूप में अवस्थिति हो गई। इस प्रकार ये नियम क्रमशः योग के लक्ष्य की ओर साधक को ले जाते हैं।

सूत्र—स्थिरसुखमासनम्॥ २.४६॥

अर्थ—सुखपूर्वक स्थिर रह सके वह आसन है।

सूत्र—प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्॥ २.४७॥

अर्थ—यह (आसन) प्रयत्न को शिथिल करने तथा अनन्त पर एकाग्रता से सिद्ध होता है।

सूत्र—ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ २.४८॥

अर्थ—तब (आसन सिद्ध होने पर) द्वन्द्वों की चोट नहीं होती।

व्याख्या

राजयोग के आसन का स्वरूप—जीवन-चर्या में यम-नियम का पालन पूरे जीवन करना है। उदाहरणत: अहिंसा का पालन किसी एक स्थान पर एक समय में ही नहीं करना है, प्रत्युत सभी स्थानों पर हर समय करना है। अत: यह नियम सार्वभौम और सार्वकालिक है। पूरे समय इनका पालन करते हुए विशेष समय पर आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास करना है। आसन अथवा प्राणायाम अहिंसा के समान हर समय नहीं किए जाते, उनका एक समय निर्धारित रहता है। इस प्रकार योग पूरे जीवन में व्याप्त भी है और एक विशेष समय पर की जाने वाली साधना भी है। प्रारम्भ में तो ध्यान भी एक विशेष समय पर निर्धारित अवधि के लिए ही किया जाता है किन्तु बाद में वह साधक के चौबीसों घंटों में व्याप्त हो जाता है।

विशेष समय में निर्धारित अवधि के लिए किए जाने वाला प्रथम योग का अंग आसन है। पतञ्जलि का योग हठयोग नहीं है। हठयोग में आसनों के अनेक भेदोपभेद बताए गए हैं, पतञ्जलि ने ऐसे किन्हीं मत्स्येन्द्रासन अथवा शीर्षासनों का उल्लेख नहीं किया। हठयोग में शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता रहती है। पतञ्जलि के लिए आसन कोई शारीरिक व्यायाम नहीं है, अपितु ध्यान करते समय बैठने का एक ऐसा तरीका है जो साधक को चित्त की एकाग्रता बनाए रखने में सहायक हो।

यदि साधक का चित्त शरीर पर ही रहेगा तो वह प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों पर अपना चित्त केन्द्रित नहीं कर पाएगा। इसलिए उसे इस तरीके से बैठना चाहिए अथवा शरीर को ऐसी स्थिति में रखना चाहिए कि बार-बार शरीर को हिलाना-डुलाना न पड़े और शरीर को किसी प्रकार

का कष्ट भी न हो। पतञ्जलि कहते हैं कि आसन स्थिर और सुखद होना चाहिए। पतञ्जलि की यह परिभाषा आसनों की सामान्य धारणा से विपरीत है। सामान्यत: जो आसन हम करते हैं वे हठयोग के अंग हैं। पतञ्जलि तो आसन के स्थिर होने की बात कह रहे हैं और सूर्य- नमस्कार आदि आसनों में तो शरीर की गति होती है। वस्तुत: पतञ्जलि राजयोग की चर्चा कर रहे हैं, सूर्य नमस्कार आदि हठयोग के आसन हैं। इन दोनों के भिन्न प्रयोजन हैं। यद्यपि वे प्रयोजन परस्पर विरोधी नहीं हैं।

योग का प्रयोजन तो यह है कि ध्यान के समय शरीर की चञ्चलता बाधक न बने। किन्तु जब तक शरीर स्वस्थ न हो, शरीर स्थिर नहीं रह सकता। शरीर स्थिर न हो तो चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता। जिस पात्र में जल भरा है, यदि वह पात्र हिलता रहेगा तो उसमें रखा हुआ जल भी हिलता ही रहेगा, इसी प्रकार यदि शरीर चञ्चल रहेगा तो चित्त की चञ्चलता भी बनी ही रहेगी। हठयोग में बताए गए सूर्य-नमस्कार आदि आसन शरीर में प्राणों के प्रवाह को संतुलित बनाकर शरीर को लचीला बनाते हैं। अभ्यास के द्वारा शरीर को कितना लचीला बनाया जा सकता है, इसका ज्ञान सरकस में दिखाए जाने वाले करतबों से हो सकता है। हठयोग के आसनों का प्रयोजन शरीर को लचीला बनाना है। शरीर जितना लचीला होगा उसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता ज्यादा होगी। हठयोग के आसन यदि विधिपूर्वक किए जाएँ तो शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। स्वस्थ शरीर स्थिर रहता है। अस्वस्थता से उत्पन्न व्याकुलता शरीर को चञ्चल बनाती है। हठयोग के आसन शरीर को स्वस्थ बनाकर स्थिर करने में सहायक होते हैं।

शरीर के स्वस्थ होने पर आसन स्वयं स्थिर हो जाता है, उसे स्थिर करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। दार्शनिक दृष्टि से देखें तो शरीर

तमोगुण प्रधान है। अत: उसमें स्वयं क्रिया नहीं होती, स्वयं तो वह स्थिर ही रहता है, उसमें क्रिया रजोगुण के कारण आती है। मन रजोगुण प्रधान है। रजोगुण का कार्य दु:ख उत्पन्न करना है। दु:ख होगा तो मन का रजोगुण मन को चञ्चल बना देना और मन की चञ्चलता शरीर को चञ्चल बना देगी। इसके विपरीत दु:ख के अभाव में मन स्थिर हो जाता है, तो शरीर की स्थिरता भी बनी रहती है। अत: पतञ्जलि ने आसन को स्थिरता और सुख दोनों से जोड़ा है।

यहाँ एक बिन्दु को समझना आवश्यक है। शरीर सुषुप्ति में अथवा मूर्च्छा में भी स्थिर हो जाता है किन्तु यह स्थिरता तमोगुण की स्थिरता है। सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा में दु:ख मिट नहीं जाते, वे केवल प्रतीत होने बन्द हो जाते हैं। दु:ख की प्रतीति न हो, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दु:ख मिट गया। मादक द्रव्यों का सेवन भी दु:ख की प्रतीति को कम कर देता है, दु:ख को कम नहीं करता। इस प्रकार से यह हानिकारक ही है। दु:ख की प्रतीति होगी तो हम दु:ख के निवारण का पुरुषार्थ भी करेंगे, दु:ख की प्रतीति ही न होगी तो हम दु:ख को हटाने की बात भी नहीं सोचेंगे।

दु:ख की प्रतीति का होना न होना हमारी संवेदनशीलता पर निर्भर करता है। योगी इतना अधिक संवेदनशील होता है कि सामान्य व्यक्ति को जिन परिस्थितियों में दु:ख नजर ही नहीं आता, उसे उन परिस्थितियों में भी सूक्ष्म दु:ख दिख जाता है। अत: वह उन्हें दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। यही योग का प्रारम्भ बिन्दु है। योगी को भोगों में भी दु:ख दिख जाता है यह उसकी तीव्र संवेदनशीलता का परिणाम है। कई लोग भ्रमवश इसे भारतीय दर्शन का निराशावाद या

पलायनवाद मान लेते हैं। यदि भोगों में दु:ख है तो उसे देख पाना यथार्थवाद है, निराशावाद या पलायनवाद नहीं।

व्याधि शारीरिक दु:ख है, आधि मानसिक दु:ख है। इन दोनों प्रकार के दु:खों को दूर करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। यदि ये दु:ख न रहें, तो प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। पतञ्जलि इसे प्रयत्नशैथिल्य कहते हैं। आधुनिक भाषा में इसे रिलेक्सेशन कहेंगे। हठयोग के आसन प्रयत्न साध्य हैं, राजयोग के पद्मासन आदि आसन सहज हैं। पद्मासन के लिए प्रयत्न करना पड़े तो फिर वे सुखद कैसे हो सकते हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि अनन्त पर ध्यान लगाने से आसन स्थिर और सुखद हो जाता है। अनन्त का एक अर्थ परमात्मा है। सांख्य का पुरुष भी अनन्त है। अभिप्राय दोनों परिस्थितियों में एक ही है कि शुद्ध चेतना पर ध्यान रखना है। इससे आसन सिद्ध हो जायेगा। शुद्ध चेतना निष्कम्प है, हम जिसका ध्यान करते हैं तद्‌रूप ही हो जाते हैं, अत: शुद्ध निष्कम्प चेतना पर चित्त केन्द्रित करने से हमारा शरीर भी निष्कम्प हो जायेगा। निष्कम्प तो कोई प्रयास कर नहीं सकता। अत: निष्कम्प शरीर का प्रयास छूट जाता है। जैन दर्शन इस स्थिति को अयोग की स्थिति कहता है। स्थिर शरीर शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता। प्रयत्न का अर्थ है तनाव। तनाव रहित शरीर पर चोट प्रभाव नहीं डालती। इसलिए वृद्धावस्था में जरा सी चोट लगने पर हड्‌डी टूट जाती है, बच्चों का शरीर लचीला है तो उस पर चोट का असर बहुत कम होता है। आसन में साधक का शरीर तनाव मुक्त होता है। अत: उस पर सर्दी–गर्मी की चोट असर नहीं करती।

आजकल योगाभ्यास में जिस प्रकार आसन करवाया जाता है, वह प्राय: पतञ्जलि का राजयोग न होकर हठयोग ही बन गया है। साधक

को आसन में सुख कहाँ मिलता है? उसे तो आसन छोड़ने पर सुख मिलता है इसलिए आसन के समय वह प्रत्यत्न-शैथिल्य की बजाय गहरे प्रयत्न में चला जाता है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोग के आसन न किए जाएँ किन्तु हठयोग के आसन स्वयं में साध्य नहीं हैं वे केवल साधन हैं, साध्य तो पतञ्जलि प्रतिपादित वह स्थिर, सुखप्रद और सहज आसन है जहाँ तनाव नहीं बल्कि प्रयत्न-शैथिल्य होता है। इस प्रकार के आसन में ही हम शरीर की चिन्ता से मुक्त हो सकते हैं जो कि प्राणायाम सहित अन्य परवर्ती सभी योगाङ्गों के अनुष्ठान की अनिवार्य शर्त है। जब तक शरीर हमारा ध्यान बँटाता रहेगा, हम शरीर से अधिक सूक्ष्म विषयों पर ध्यान दे ही नहीं पायेंगे। आसन शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाने का नाम है, ताकि हम शरीर से ऊपर उठ सकें।

सूत्र—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ २.४९॥

अर्थ—उसके (आसन के) होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है।

सूत्र—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ २.५०॥

अर्थ—बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति (वाला प्राणायाम) देश, काल तथा संख्या से नापने पर दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है।

व्याख्या

प्राणायाम का स्वरूप—पतञ्जलि आसन के बाद प्राणायाम का उल्लेख करते हैं। यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा है। आसन का सम्बन्ध शरीर से है। प्राणायाम का सम्बन्ध प्राण से है। शरीर स्थूल है,

प्राण सूक्ष्म है। जब शरीर आसन में स्थिर हो जाता है, तब साधक प्राण पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। पतञ्जलि स्पष्ट लिखते हैं कि आसन की सिद्धि हो जाने पर प्राणायाम का क्रम आता है। प्राण श्वास नहीं है। श्वास बहुत स्थूल है। प्राण बहुत सूक्ष्म है। श्वास तो एक प्रकार से वायु है, जिसे हम त्वचा पर स्पर्श कर सकते हैं। यह श्वास प्राण का वाहक है। प्राण का त्वचा से स्पर्श नहीं किया जा सकता है। प्राण का अर्थ है—जीवनशक्ति। प्राण क्रिया का कारक है। प्राण के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती।

पतञ्जलि कहते हैं कि आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास के आने-जाने की गति रुक जाती है तो प्राणायाम होता है। प्राणायाम का अर्थ है, प्राणों का आयाम अर्थात् प्राणों का विस्तार। जब श्वास अन्दर जाता है और बाहर आता है तो यदि श्वास की गति तेज होती है तो श्वास का विस्तार संकुचित हो जाता है अर्थात् अन्दर और बाहर श्वास बहुत दूर तक नहीं जा पाता। क्योंकि श्वास का संचार क्षेत्र संकुचित हो जाता है और श्वास ही प्राण का वाहक है इसलिए श्वास के संकोच के साथ प्राण भी संकुचित हो जाता है। इसके विपरीत यदि श्वास की गति मन्द कर दी जाए तो श्वास का संचरण क्षेत्र अन्दर की तरफ भी और बाहर की तरफ भी बढ़ जाता है। इस प्रकार श्वास के संचरण क्षेत्र के विस्तार के साथ प्राण का भी आयाम विस्तृत हो जाता है। संक्षेप में यही प्राणायाम है। कोई भी व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि उसका मन जितना चंचल होगा उतना ही श्वास भी तेज चलने लगेगा। क्रोध के आवेग में इस बात का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि हमारा श्वास तेज चलने लगता है। इसके विपरीत यदि हमारा श्वास मन्द गति से चलेगा तो हमारा मन भी शान्त हो जाएगा। प्राण, शरीर और मन के

बीच की कड़ी है। आसन में शरीर स्थिर होता है तो श्वास की गति मन्द हो जाती है और प्राण विस्तृत हो जाता है। प्राण के विस्तृत होने पर मन शांत हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम योग में सहायक होता है।

ब्रह्माण्ड में कुछ भी निष्प्राण नहीं है। प्रत्येक परमाणु में होने वाला स्पन्दन इस बात का प्रमाण है कि उसमें प्राण है, क्योंकि बिना प्राण के छोटे से छोटा प्रकम्पन भी नहीं हो सकता। प्राणायाम की स्थिति में हमारा प्राण विश्व के समष्टि प्राण से जुड़ कर महाप्राण बन जाता है। तब हम समष्टि से अलग नहीं रह कर अखण्ड से जुड़ जाते हैं। खण्डित होने का अनुभव ही हमें जीव बनाए हुए है, अखण्ड होने का अनुभव ही हमें ब्रह्मभाव में ले आता है, जो कि हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार प्राणायाम हमें हमारे वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होने में सहायक सिद्ध होता है। प्रसिद्ध है कि जहाँ पवन जाता है, वहाँ मन जाता है। अतः पवन को वश में करना मन को वश में करने का अचूक साधन है। जिस प्रकार हठयोग में आसन के अनेक भेद बताये गये हैं, उसी प्रकार प्राणायाम के भी अनेक भेद हठयोग में बताए गए हैं। पतञ्जलि हठयोग का वर्णन न करके राजयोग में बताए गए प्राणायामों का ही वर्णन करते हैं। आसन हो या प्राणायाम, दोनों में ही उत्तम अधिकारी के लिए राजयोग ही पर्याप्त है। किन्तु मध्यम अधिकारी के लिए हठयोग भी उपयोगी है। इतना अवश्य है कि हठयोग का अभ्यास करने वाले को भी हठयोग को केवल साधन ही मानना चाहिए, साध्य तो राजयोग ही है। इसके अतिरिक्त हठयोग की क्रियाएँ जटिल हैं। अतः उनका प्रयोग प्रशिक्षित अनुभवी गुरु की देखरेख में ही करना चाहिए, अन्यथा वे हानि भी कर सकती हैं। राजयोग में ऐसी हानि की संभावना नहीं के बराबर है।

सूत्र—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ २.५१॥

अर्थ—(बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भ नामक तीन के अतिरिक्त) बाह्य तथा आभ्यन्तर को फेंकने वाला चतुर्थ प्राणायाम है।

सूत्र—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ २.५२॥

अर्थ—तब (प्राणायाम से) प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।

व्याख्या

प्राणायाम का फल—रेचक, पूरक तथा कुम्भक नामक तीन प्राणायामों के अतिरिक्त पतञ्जलि चतुर्थ प्राणायाम का भी उल्लेख करते हैं। विद्वानों के मत में चतुर्थ प्राणायाम बौद्धों का प्रसिद्ध आनापान सती है। इस प्राणायाम में श्वास की गति को प्रयत्नपूर्वक रोकना नहीं है, केवल उसे एकाग्रचित होकर देखना है। चित्त को आते-जाते श्वास पर लगाना है। श्वास शरीर और मन के बीच का सेतु है। श्वास पर ध्यान करने का अर्थ है कि हम यह जान जाते हैं कि शरीर और मन एक-दूसरे से कहाँ जुड़े हैं और एक-दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं। आज विज्ञान का कहना है कि अधिकतर रोग केवल शरीर या केवल मन के नहीं हैं अपितु साइकोमैटिक अर्थात् मनःशारीरिक हैं, वे मन से प्रारम्भ होते हैं और फिर शरीर में आ जाते हैं। इस खोज ने चिकित्सकों को योग के प्रति आकृष्ट कर दिया है और अच्छे चिकित्सा केन्द्र अपने रोगियों को आसन तथा ध्यान का प्रशिक्षण भी देने लगे हैं। चतुर्थ प्रकार के प्राणायाम में कोई आयास नहीं है। केवल श्वास के साथ-साथ होश को भी बाहर-भीतर ले जाना है। यह करने पर यह भी पता चलेगा कि श्वास बाहर जाकर अन्दर आने से पहले और अन्दर आकर बाहर जाने में पहले एक-एक क्षण को रुकता है। जैसे हम एक ओर दौड़ रहे हैं और फिर

उससे विपरीत दिशा में उल्टा दौड़ना चाहें तो एक क्षण के लिए एक ओर चलने वाली दौड़ को रोक कर ही विपरीत दिशा की दौड़ चालू की जा सकती है। इसी प्रकार श्वास भी अन्दर से बाहर या बाहर से अन्दर की ओर मोड़ लेते समय एक क्षण को रुकता है। यह क्षण सहज कुम्भक का क्षण है—बिना प्रयास के किया गया कुम्भक। इस प्रक्रिया का विज्ञान-भैरव नामक काश्मीर शैव दर्शन के ग्रंथ में सबसे पहले वर्णन किया गया। श्वास का आना-जाना एक भौतिक क्रिया है किन्तु यह भौतिक क्रिया प्राण शक्ति द्वारा ही होती है। श्वास पर ध्यान करने का अर्थ है कि हम अपनी जीवनी-शक्ति के आमने-सामने होते हैं। यह जीवन-शक्ति व्यष्टि में प्राण कहलाती है और समष्टि में मातरिश्वा या सूत्रात्मा कहलाती है। व्यष्टि में इस प्राण को तैजस व्यवस्थित करता है तथा समष्टि के प्राण को हिरण्यगर्भ व्यवस्थित करता है। प्राणायाम में साधक व्यष्टि के तैजस को समष्टि के हिरण्यगर्भ से जोड़ देता है तो व्यष्टि के दोषों का परिमार्जन हो जाता है। प्राण के दोष दूर हो जाएँ तो इंद्रियों के दोष भी दूर हो जाते हैं। इसलिए पतञ्जलि कहते हैं कि प्राणायाम से प्रकाश का आवरण हट जाता है। प्रकाश ज्ञान का सूचक है। बुद्धि का सत्त्वगुण जब तमोगुण या रजोगुण से अभिभूत रहता है तो हम उसे प्रकाश का आवरण कहते हैं। यह प्रकाशावरण विवेकख्याति नहीं होने देता।

मनुस्मृति कहती है कि जिस प्रकार अग्नि से स्वर्ण का मल नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों का मल नष्ट हो जाता है। पञ्चशिखाचार्य साङ्ख्य दर्शन के बहुत बड़े आचार्य हुए हैं। उनका कहना है कि प्राणायाम से बड़ा कोई तप नहीं है जिससे मल शुद्ध हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। वस्तुत: प्राणायाम की प्रशंसा से शास्त्र भरे हुए हैं। योगवासिष्ठ में कहा गया है कि चित्त रूपी वृक्ष दो

बीजों से उत्पन्न होता है—प्राणों का स्पन्दन और वासना। इनमें से यदि एक क्षीण हो जाए तो दूसरा भी जल्दी ही क्षीण हो जाता है अर्थात् प्राणों को मन्द बना देने से वासना भी मन्द हो जाती है और वासना मन्द हो जाए तो श्वास की गति भी स्वयं ही मन्थर हो जाती है। यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है कि यदि रेचक, पूरक या कुम्भक प्राणायाम किया जाए तो प्राणायाम करते समय विचारों का प्रवाह स्वत: रुक जाता है।

भौतिक पदार्थों में सर्वाधिक व्यापक आकाश है और सर्वाधिक शक्तिशाली प्राण है। जिसने प्राणों को वश में कर लिया उसने सभी शक्तियों को अपने वश में कर लिया। प्रश्नोपनिषद् कहता है कि रयि और प्राण का युगल है। रयि भूत-भौतिक जगत् है, उसमें जो स्पन्दन-कम्पन हो रहा है, वह प्राण की शक्ति के कारण हो रहा है।

प्राण के पाँच रूप अपना कार्य अलग-अलग करते हैं। प्राण-वायु भुक्त अन्न को पचाकर अन्न के रस भाग से वीर्यपर्यन्त धातुओं को बनाती है। यह हृदय से नासिकापर्यन्त व्याप्त है। अपान वायु नाभि से पाँव तक व्याप्त है तथा यही मल-मूत्र आदि का विसर्जन करती है। नाभि से हृदय तक व्याप्त समान-वायु पचे हुए रसादि को भिन्न-भिन्न अङ्गों में वितरित करती है। उपस्थ के मूल से ऊपर स्थित व्यान-वायु अङ्गों में रुधिर-सञ्चार करता है। उदान-वायु कण्ठ से ऊपर सिर तक रहता है तथा व्यष्टि-प्राण को समष्टि-प्राण से जोड़ता है। ये पाँचों ही प्राण हैं। इनके वश में कर लेने पर शरीर की सारी गतिविधि वश में हो जाती है।

प्राणायाम के अनेक शारीरिक लाभ हैं किन्तु पतञ्जलि ने दो सूत्रों में दो लाभों का विशेष उल्लेख किया क्योंकि योग में वे ही महत्त्वपूर्ण

हैं। पहला लाभ तो प्रकाश के आवरण का हट जाना अर्थात् बुद्धि का निर्मल हो जाना है और दूसरा लाभ मन की धारणा शक्ति का बढ़ जाना है।

आगे चल कर तृतीय पाद में पतञ्जलि धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन करेंगे। ये योग के तीन अन्तरङ्ग अङ्ग हैं जिनमें धारणा प्रथम है। प्रचलन में ध्यान शब्द अधिक आ गया है किन्तु ध्यान धारणा की अगली स्थिति है। प्रारम्भ में धारणा ही होती है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्राणायाम से मन की धारणा शक्ति बढ़ती है। मन का स्वभाव है कि वह एक ध्येय पर टिक नहीं पाता। किसी भी बड़े काम के लिए मन को लम्बे समय तक एक ध्येय पर केन्द्रित करना आवश्यक है। इसलिए चञ्चल मन वाला व्यक्ति कोई भी बड़ा काम नहीं कर सकता।

मन की चञ्चलता को कम करने का एक उपाय है प्राणायाम। छोटा प्राण चञ्चल होता है, यदि प्राण दीर्घ हो जाए तो प्राण की चञ्चलता कम हो जाती है। प्राण की चञ्चलता कम होने का अर्थ मन की चञ्चलता कम होना है। प्राण दीर्घ होता है तो उसकी गति मंद ही नहीं होती, गहरी भी हो जाती है। इसके साथ ही मन की गति भी मन्द ही नहीं होती गहरी भी हो जाती है अर्थात् मन सूक्ष्मग्राही हो जाता है। ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि जैसे-जैसे मन की चञ्चलता बढ़ी है, जीवन के सभी क्षेत्रों में स्थूलता आ गई है। काव्य के क्षेत्र में सूक्ष्म व्यञ्जना की जगह स्थूल तुकबन्दी ने ले ली है। शास्त्र के अनुसार तो वह काव्य है ही नहीं। सङ्गीत का शास्त्रीय स्वरूप सूक्ष्म है किन्तु उसकी जगह फिल्मी सङ्गीत ने ले ली जो सङ्गीत कम और शोर अधिक है। नृत्य की शालीनता उछल-कूद में बदल गई। इन सब विकृतियों का कारण यह है कि चञ्चलता के कारण मन सूक्ष्म को ग्रहण ही नहीं कर पाता और अच्छी

कला पारखियों के अभाव में मर रही है। भारतीय कलायें मोक्ष की साधक हैं। काव्य शब्दब्रह्म है तो सङ्गीत नाद-ब्रह्म। किन्तु ऐसे काव्य अथवा सङ्गीत को, जो मोक्ष के साधक हैं, तब ही पकड़ा जा सकता है जब मन एकाग्र होकर सूक्ष्मग्राही बन जाए। पतञ्जलि के सारे वर्णन को पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि उनके अनुसार प्राणायाम श्वास का व्यायाम मात्र नहीं है, यह तो व्यष्टि के प्राण को समष्टि के प्राण से जोड़ने की कला है। समष्टि से जुड़ कर प्राण के साथ मन भी इतना व्यापक बन जाता है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म को धारण कर सकता है। मन की यही शक्ति वास्तविक संस्कृति है।

सूत्र—धारणासु च योग्यता मनसः॥ २.५३ ॥

अर्थ—और (प्रकाश के आवरण की क्षीणता के साथ-साथ) मन की धारणा में योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

सूत्र—स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ २.५४॥

अर्थ—अपने विषयों से सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती हैं—यही प्रत्याहार है।

सूत्र—ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ २.५५॥

अर्थ—तब (प्रत्याहार होने पर) इन्द्रियों पर अत्यन्त वश सध जाता है।

व्याख्या

प्रत्याहार—इन्द्रियाँ अपना काम तब तक ही कर सकती हैं जब तक उनका सम्बन्ध चित्त से जुड़ा है। कभी कोई प्रियजन हमारे पास से

गुजर जाता है किन्तु हम उसे नमस्कार नहीं करते। बाद में वह मिलता है तो कहता है कि तुम अब हमारी तरफ क्यों देखोगे, तुम ठहरे बड़े आदमी और हम तो छोटे आदमी हैं। तब हम कहते हैं कि भाई ऐसा ताना क्यों मार रहे हो। तो वह कहता है कि अमुक दिन अमुक स्थान पर मैं तुम्हें मिला किन्तु तुमने मेरी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया, तो हम कहते हैं कि भाई क्षमा करना उस समय मेरा ध्यान कहीं और था, मैं तुम्हें देख नहीं पाया। निष्कर्ष यह है कि आँख अपना काम तभी कर पाती है जब उससे चित्त जुड़ा हो। सभी इन्द्रियों की यही स्थिति है। चित्त कहीं और हो तो कान शब्द को सुनते हुए भी नहीं सुन पाएगा। इस व्याख्या को पढ़ते समय यदि चित्त कहीं और हो तो हम शब्द भले ही पढ़ जाएँ किन्तु अर्थ नहीं समझ पाएँगे।

निष्कर्ष यह है कि यदि चित्त का व्यापार रुक जाए तो इन्द्रियों का व्यापार भी रुक जाएगा। उस समय इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाने के लिए पृथक् से किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहेगी। यम, नियम, आसन और प्राणायाम चित्त के व्यापार को निरुद्ध करने का उपाय हैं। जब इन उपायों से चित्त निरुद्ध हो जाता है तो इन्द्रियाँ भी अपने-अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि ऐसी अवस्था में इन्द्रियाँ मानो चित्त का ही अनुकरण करती हैं। इन्द्रियाँ चित्त का पूरा अनुकरण तो नहीं कर सकतीं, क्योंकि चित्त आत्माभिमुख हो जाता है जबकि इन्द्रियाँ अपने विषयों से तो विमुख हो जाती हैं किन्तु आत्माभिमुख नहीं हो सकतीं। अतः पतञ्जलि यह नहीं कहते कि इन्द्रियाँ चित्त का पूरा-पूरा अनुकरण करती हैं किन्तु कहते हैं कि वे मानो चित्त का अनुकरण सा करती हैं। भाष्यकार उपमा देते हैं कि जैसे रानी मधुमक्खी

के बैठने पर शेष मधुमक्खियाँ भी बैठ जाती हैं तथा रानी मधुमक्खी के उड़ने पर शेष मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं, इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार चित्त का अनुकरण करती हैं। इस प्रक्रिया को प्रत्याहार कहा गया है। हम आहार केवल मुख से ही नहीं करते, चक्षु रूप का, कर्ण शब्द का, नासिका गन्ध का तथा स्पर्शेन्द्रिय शीतोष्ण का आहार करती हैं। जिह्वा तो रस का आहार करती ही है। ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का आहार करना छोड़ दें—यही प्रति+आहार अर्थात् प्रत्याहार है।

बहुत प्रयत्नपूर्वक हम चक्षु को रूप के आकर्षण से हटाते हैं तो कानों को मधुर शब्द का आकर्षण बना रहता है। इसी प्रकार एक इन्द्रिय को वश में कर लेने पर दूसरी कोई इन्द्रिय स्वच्छन्द हो जाती है। किन्तु चित्त का निरोध कर लेने पर सभी इन्द्रियों का निरोध हो जाता है—यह प्रत्याहार का फल है। इसे पतञ्जलि इन्द्रियों की परमावश्यता कहते हैं। एक इन्द्रिय का वश में हो जाना अपरमावश्यता है, सभी इन्द्रियों का वश में हो जाना परमावश्यता है। परमावश्यता की भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। एक मत है कि विषयों के प्रति अनासक्त भाव रखना परमावश्यता है। अर्थात् इन्द्रियों को विषयों के अधीन न होने देना। दूसरे मतानुसार शास्त्र विरुद्ध विषयों का सेवन न करना तथा शास्त्रानुकूल विषयों का सेवन परमावश्यता है। तीसरे मत में अपनी इच्छानुसार जिस विषय में चाहें उसी में इन्द्रिय की प्रवृत्ति हो, यह परमावश्यता है।

चौथे मत में इन्द्रियों द्वारा विषय का ज्ञान करते समय सुख-दु:ख न हो, यह परमावश्यता है। इन सभी मतों में आंशिक रूप से इन्द्रियजय का तत्त्व है किन्तु जैगीषव्य ऋषि के मत में इन्द्रियों का

अपने-अपने विषय में निरुद्ध हो जाना ही परमावश्यता है। इस परमावश्यता में इन्द्रियजय के अन्त में किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती।

भाव यह है कि अन्यान्य उपायों में तो प्रयत्न करना पड़ता है, किन्तु चित्त के वश में हो जाने पर इन्द्रियों का वश में हो जाना अनायास सिद्ध हो जाता है।

इसी विवरण के साथ योगसूत्र का दूसरा पाद सम्पन्न होता है। इस पाद का नाम साधन पाद है। इस पाद में योग के आठ अङ्गों में से पाँच अङ्गों का उल्लेख है जिन्हें योग के बहिरङ्ग कहा जाता है क्योंकि वे साध्य न होकर साधन हैं। इन अङ्गों के स्वरूप से यह स्पष्ट हो गया कि योग केवल व्यक्तिगत साधना का ही शास्त्र नहीं है, अपितु एक समाज दर्शन भी है। अहिंसा का मुख्यरूप पारस्परिक व्यवहार में ही निखर कर आता है। इसी प्रकार सत्य और अस्तेय एक सुव्यवस्थित समाज के घटक हैं।

दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि योग केवल शरीर तथा मन को स्वस्थ बनाने वाला ही नहीं है, इसमें आत्मसाक्षात्कार करके आवागमन के चक्र से मुक्ति पाने का भी उपाय वर्णित है। तीसरे, योग एक विज्ञान है, यह कोई जादू-टोना नहीं है। यम-नियम इसके बीज हैं, आसन-प्राणायाम अंकुर हैं, प्रत्याहार पुष्प है तो धारणा, ध्यान और समाधि फल हैं।

जिस प्रकार तर्क-शास्त्र सभी भारतीय दर्शनों को मान्य है उसी प्रकार पतञ्जलि के योगसूत्र का अधिकांश भाग सभी अध्यात्मप्रेमियों को स्वीकार्य है, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों। साधन-पाद के पूर्वार्द्ध में तत्त्वमीमांसा है, जिसका मुख्य आधार सांख्यदर्शन है। किन्तु उत्तरार्द्ध में जिस आचारमीमांसा का प्रतिपादन है, वह सार्वभौम है।

आवश्यकता इस बात की है कि योग के नाम पर आज जब हम आसन, प्राणायाम और ध्यान की चर्चा करें तो यम और नियमों को न

भुला दें। पतञ्जलि पूर्णतः व्यावहारिक हैं। वे पूर्णकालिक योगी के लिए महाव्रतों का प्रतिपादन करते समय सांसारिक व्यक्तियों के लिए आंशिक यमों का प्रतिपादन करना भी भूलते नहीं। यदि आज उन आंशिक यमों का भी पालन किया जाए तो समाज का कायाकल्प हो सकता है। आजकल नैतिक शिक्षा की चर्चा बहुत होती रहती है। यदि कभी राष्ट्रीय स्तर पर नैतिक शिक्षा लागू करने की बात उठे तो संभवतः पतञ्जलि का योगसूत्र उस शिक्षा के लिए आदर्श पाठ्यग्रन्थ बन सकेगा। इस सूत्र की यह विशेषता है कि इसमें नैतिकता का उपदेश नहीं है बल्कि उस व्यावहारिक पद्धति का निरूपण है जिस पद्धति से व्यक्ति नैतिक बन सकता है। यह पद्धति व्यावहारिक है, इसीलिए स्वयं पतञ्जलि ने इसे क्रियायोग कहा है। प्रस्तुत साधन पद, क्रियायोग से ही प्रारम्भ होता है।

❒❒❒

ॐ

पातञ्जलयोगसूत्र

विभूतिपाद

सूत्र—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ ३.१ ॥

अर्थ—चित्त को (शरीर के) किसी प्रदेश पर एकाग्र करना धारणा है।

सूत्र—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ ३.२ ॥

अर्थ—उस (प्रदेश) में एक वृत्ति का निरन्तर बना रहना ध्यान है।

सूत्र—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ ३.३ ॥

अर्थ—वही (ध्यान) जब अपने रूप से रहित-सा होकर केवल (केवल विषयभूत) अर्थ को ही प्रतीत करवाता है तो समाधि कहलाता है।

सूत्र—त्रयमेकत्र संयमः॥ ३.४॥

अर्थ—तीनों (धारणा, ध्यान तथा समाधि) का एक ही विषय में होना संयम कहलाता है।

सूत्र—तज्जयात्प्रज्ञालोकः॥ ३.५॥

अर्थ—उस (संयम) के सिद्ध होने पर प्रज्ञा का आलोक होता है।

व्याख्या

संयम का योगशास्त्रीय स्वरूप—योगसूत्र के द्वितीय पाद में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक योग के प्रथम पाँच अंगों का स्वरूप एवं उनका फल बता दिया गया। पाँचों योग के बहिरंग थे, योग के अन्तरंग तो धारणा, ध्यान और समाधि हैं। धारणा, ध्यान और समाधि को मिलाकर इन तीनों का ही योगशास्त्र में संयम नाम है। इन्द्रियों का अपने-अपने विषय से नियंत्रित करना तो यम है किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि संयम हैं। यह इस नामकरण से स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य नियंत्रण तो साधन है, साध्य तो अन्तरंग नियंत्रण अर्थात् चित्तवृत्ति का नियंत्रण है। किसी की हिंसा न करें—यह बाह्य नियंत्रण हुआ, किन्तु किसी की हिंसा करने की बात भी मन में न आए—यह आंतरिक नियंत्रण हुआ। चित्तवृत्ति के अनियंत्रित होने का अर्थ चित्तवृत्ति का चञ्चल होना है। इस चञ्चलता को, चित्तवृत्ति को एकाग्र करके रोका जा सकता है। चित्तवृत्ति को एकाग्र करने की प्रक्रिया ही संयम है। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को अन्तर्मुख पहले ही बना दिया जाता है। अन्तर्मुख चित्तवृत्ति बाह्य विषयों से पहले ही पराङ्मुख हो चुकी है। अब उसे आन्तरिक विषयों पर भी एकाग्र करना है।

आन्तरिक विषय शरीर का प्रदेश-विशेष, नाभि, हृदय, भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि हो सकते हैं। इनमें से किसी एक प्रदेश पर चित्तवृत्ति को एकाग्र करना धारणा है, जो संयम का प्रथम अंग है। इससे ध्येय का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। अतः

पिण्ड का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से ब्रह्माण्ड का स्वरूप ही वैसे ही स्पष्ट हो जाता है जिस प्रकार समुद्र के पानी की एक बूँद चखने पर पूरे समुद्र का ही स्वाद ज्ञात होने लगता है।

चित्तवृत्ति को एक ध्येय पर एकाग्र कर देने के बाद उसे उसी ध्येय पर निरन्तर टिकाए रखना ध्यान है। यह संयम का द्वितीय चरण है। जैसे तेल की धार बिना व्यवधान के गिरती है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति का प्रवाह एक ही ध्येय पर निरन्तर चले, यह ध्यान है। संयम का तीसरा और अंतिम चरण समाधि है। ध्यान में एक त्रिपुटी रहती है—ध्याता, ध्यान और ध्येय। यही ध्यान जब और प्रगाढ़ होता है तो ध्येय तो शेष रह जाता है, ध्याता और ध्यान का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है। इसी समाधि को प्रथम पाद में निर्वितर्क समापत्ति कहा गया है और ध्यान को सवितर्क समापत्ति कहा गया है। फलितार्थ यह हुआ कि निर्वितर्क समापत्ति समाधि है और सवितर्क समापत्ति ध्यान है। ध्यान का भी पूर्वरूप धारणा है।

इस प्रकार संयम के तीन चरण हुए हैं—चित्तवृत्ति का विषय किस एक ध्येय को बना लेना धारणा है, उसी ध्येय पर चित्तवृत्ति का निरन्तर टिकाए रहना ध्यान है तथा ध्याता और ध्यान का लगभग मिट जाना तथा केवल ध्येय का बने रहना समाधि है। जब हम किसी ध्येय पर चित्तवृत्ति एकाग्र करते हैं तो उस ध्येय का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। हमें जिस ध्येय का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है वह ध्येय हमारे नियंत्रण में आ जाता है। संयम द्वारा अर्थात् चित्तवृत्ति की एकाग्रता द्वारा ध्येय का नियंत्रण में आ जाना ही सब विभूतियों का, प्राकृतिक शक्तियों का मूल है। अतः विभूतिपाद के प्रारम्भ में सर्वप्रथम संयम का ही स्वरूप बताया गया।

आगे सूत्र में जहाँ-जहाँ किसी विभूति का वर्णन करेंगे, वहाँ-वहाँ प्रदेश विशेष पर संयम करने की बात भी कहेंगे। ये सब विभूतियाँ प्राकृतिक होने पर भी संयमजन्य होने के कारण साधक में यह विश्वास उत्पन्न करती हैं कि यदि संयम से प्राकृतिक शक्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं तो संयम से विवेकख्याति भी उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः चञ्चलता रजोगुण का कार्य है। यम-नियमादि के द्वारा तमोगुण तो बहिरंग साधनों द्वारा ही अभिभूत हो जाता है किन्तु चित्त की चञ्चलता का कारण रजोगुण अंतरंग संयम द्वारा नियन्त्रित हो जाता है। तब सत्वगुण का उदय होता है। यह सत्त्वगुण भी विवेकख्याति द्वारा पुरुष के कैवल्य का बोध कराकर स्वयं भी लीन हो जाता है जैसे कोई नेवला किसी सर्प को मारकर उसी सर्प के दंश से स्वयं भी मर जाए। जब हम चित्त के किसी प्रदेश पर ध्यान करें तो उस प्रदेश में स्थित चेतना पर भी ध्यान करें, अन्यथा हमारा ध्यान जड का ध्यान हो जाएगा। नियम यह है कि हम जिसका ध्यान करते हैं, वही हो जाते हैं। ध्यान की शक्ति ऐसी ही है। यदि हम जड का ध्यान करेंगे तो हम भी जड हो जाएँगे। यह जड समाधि होगी गहरी मूर्च्छा की स्थिति। अतः शरीर में स्थित चेतना का कभी विस्मरण न करें। शरीर में होने वाला प्रत्येक स्फुरण-स्पन्दन शरीर में स्थित चेतना का सूचक है। विपश्यना ध्यान पद्धति में इसीलिए शरीर में होने वाले स्पन्दनों पर चित्तवृत्ति को एकाग्र करने के लिए कहा जाता है।

सूत्र—तस्य भूमिषु विनियोगः॥ ३.६॥

अर्थ—उस (संयम) को (चित्त की) भूमियों में उपयोग करना चाहिये।

सूत्र—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ ३.७॥

अर्थ—पहलों (योग के अङ्गों) की अपेक्षा ये तीन अन्तरङ्ग हैं।

सूत्र—तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य॥ ३.८॥

अर्थ—ये (तीन) भी निर्बीज (असम्प्रज्ञात) की (अपेक्षा) बहिरङ्ग ही हैं।

व्याख्या

योग साधना के सोपान—साधनपाद में यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारों का वर्णन किया गया और विभूतिपाद का प्रारम्भ धारणा, ध्यान तथा समाधि के वर्णन से हुआ। इनमें से प्रथम पाँच साधनों का वर्णन अंतिम तीन साधनों से भिन्न पाद में करने का कारण यह है कि प्रथम पाँच साधन बहिरंग और अंतिम तीन साधन अंतरंग हैं। बहिरंग और अंतरंग का भेद समझना चाहिए।

प्रथम तो यह समझना है कि समाधि भी साधन ही है तो फिर साध्य क्या है? उत्तर यह है कि समाधि भी दो प्रकार की है—सबीज समाधि तथा निर्बीज समाधि। इनमें निर्बीज समाधि साध्य है, सबीज समाधि तो साधन ही है। इसी प्रकार प्रत्येक साधन अपने से अगले साध्य का साधन और अपने से पहले साधन का साध्य हो जाता है। क्रम यह है—बहिरंग यम से प्रत्याहार पर्यन्त साधन हैं धारणा के, धारणा साधन है ध्यान का, ध्यान साधन है सबीज समाधि का और सबीज समाधि साधन है निर्बीज समाधि का। निर्बीज समाधि परम साध्य है, वह किसी का साधन नहीं है। सबीज और निर्बीज में 'बीज' शब्द पड़ा है। बीज का अर्थ है जो उग जाए। चित्त की वह स्थिति जो जन्म-मरण रूप वृक्ष को उत्पन्न करती है, बीज कहलाती है। चित्त की सघन एकाग्रता भी जब तक जन्म-मरण के चक्र को उत्पन्न करती है, वह एकाग्रता सबीज

समाधि ही है, किन्तु चित्त की ऐसी स्थिति हो जाना कि जन्म-मरण का चक्र पुनः उत्पन्न न हो, निर्बीज समाधि है। निर्बीज समाधि इसीलिए परम साध्य अथवा लक्ष्य कहलाती है कि उसके बाद जन्म-मरण का प्ररोह नहीं होता अर्थात् कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यही साधक की कृतकृत्यता है। वस्तुतः निर्बीज समाधि चित्त की अवस्था न होकर चित्त का विलय हो जाना है। जब तक चित्त है तब तक तो बीज है ही।

ऐसा समझें कि हमारा अपना स्वरूप शरीर से ही नहीं, चित्त से भी परे है। हमें उसी चित्तातीत अवस्था में अवस्थित होना है जिसे पतञ्जलि स्वरूप में अवस्थित होना कहते हैं। स्वरूप के दो आवरण हैं जिन्हें हटाना है—पहला आवरण स्थूल है, जिसे शरीर शब्द से कहेंगे तथा दूसरा आवरण सूक्ष्म है, जिसे चित्त कहेंगे। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार रूप बहिरंग साधन स्थूल आवरण हटाते हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि रूप अन्तरंग साधन सूक्ष्म आवरणों को भी हटा देते हैं। तब साधक अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही योग का परम लक्ष्य है। यही कैवल्य है। यही निर्बीज समाधि है।

इस लक्ष्य तक वे साधक अकस्मात् भी पहुँच जाते हैं जिन्होंने पहले सोपानों की साधना पूर्वजन्मों में कर ली है। अन्यथा यह साधना क्रमशः की जाती है। पहला सोपान सवितर्क समापत्ति है, दूसरा सोपान निर्वितर्क समापत्ति है, तीसरा सोपान सविचार समापत्ति है तथा चौथा सोपान निर्विचार समापत्ति है। इन समापत्तियों का विवरण पहले पाद में कर दिया गया है किन्तु उसी वर्णन को विष्णु पुराण ने जिस रोचक तथा सुगम ढंग से किया है उसे यहाँ पुनः स्मरण कराने के लिए दिया जा रहा है। विष्णु पुराण कहता है कि प्रथम विष्णु का शंख, गदा, चक्र तथा

धनुष सहित चिन्तन करें। यह प्रथम सोपान है। द्वितीय सोपान में इन उपकरणों से रहित विष्णु का चिन्तन करें। तृतीय सोपान में विष्णु के पूरे शरीर को छोड़कर केवल एक अवयव—मुख अथवा चरण—का चिन्तन करें। पुन: उस एक अवयव को भी छोड़कर 'सोऽहं' रूप में ही चिन्तन करें। यह स्थूल से सूक्ष्म तक जाने की और दूसरे से अपने तक आने की प्रक्रिया का एक उदाहरण है। सामान्य साधक यह प्रयत्न न करे कि वह पहली सीढ़ी को छोड़कर दूसरी सीढ़ी पर चला जाए। ऐसा करने पर चित्त पुन: पहली सीढ़ी पर जाता रहेगा। वह स्थिर नहीं हो पाएगा। हाँ, उस असाधारण साधक की बात दूसरी है जो पूर्वजन्म में योगानुष्ठान से पहली सीढ़ियों को पहले ही पार कर चुका है।

निष्कर्षत: सीधी निर्गुणोपासना भी सौभाग्यशाली साधक के लिए सम्भव है किन्तु सामान्य साधक को तो सगुण से ही निर्गुण पर आना चाहिए।

व्यक्ति कौन से सोपान पर आने के योग्य हो गया है, इसका पता उसे स्वयं ही लग जाता है। जिस सोपान पर उसका चित्त स्थिर हो जाए, उसकी अर्हता उसी सोपान की समझनी चाहिए। यदि स्थूलतम पदार्थ पर भी चित्त स्थिर न हो तो समझ लेना चाहिए कि अभी यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार रूप बहिरंग साधनों की साधना ठीक से नहीं हुई। अधिकतर साधक प्रथम बैठक में स्थूलतम विषय पर भी धारणा नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि उन्होंने यमादि के साधनों का पालन नहीं किया होता। वे ध्यान की बैठक में बैठ ही नहीं पाते, अपितु ध्यान को ढोंग बताकर उसकी निन्दा और करने लगते हैं। ऐसे लोगों को पहले अपने चित्त से हिंसा आदि के वितर्कों को निकालना

चाहिए। ध्यान करने के लिए भी चित्त की एक विशेष योग्यता चाहिए—'मोहब्बत के लिए भी कुछ दिले-मखसूस होते हैं। यह वो नगमा है जो हर साज पे गाया नहीं जाता है।' योग के जिन सोपानों की चर्चा ऊपर की गई है, संक्षेप में वे सोपान हमें कहीं और नहीं ले जाते बल्कि सब ओर से हटाकर अपने तक लाते हैं। जो साधक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है उसके सान्निध्यमात्र से एक शीतल शांत आभा अनुभव में आने लगती है जिसके संस्पर्श से सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति भी अपूर्व शांति का अनुभव करने लगता है। यह सत्संग का फल है।

योग दमन का मार्ग नहीं है अपितु अतिक्रमण करने का उपाय है। जो दमन करता है उसका संयम कृत्रिम होता है। जो अतिक्रमण करता है उसकी निम्नगा वृत्तियों का ऊर्ध्वीकरण हो जाता है। जो शक्ति सामान्यत: वासना में नीचे की ओर जाती है, योग उसी शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाकर सच्चे ब्रह्मचर्य का पालन कराता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म की चर्य्या। ब्रह्म हमारा अपना ही शुद्ध रूप है। अत: ब्रह्मचर्य वह जीवन शैली तथा चिन्तन शैली है जो किसी भी शुद्ध आत्मा में स्वत:स्फूर्त होती है। इसके विपरीत दमन में वासना दबकर बाहर से अन्तरतम में प्रविष्ट हो जाती है। ऐसी साधना को गीता में मिथ्याचार कहा है। दमन के निषेध का अर्थ स्वच्छन्दाचार नहीं समझना चाहिए। प्रसिद्ध है कि भोग भोगने से भोग की कामना शांत नहीं होती अपितु जिस प्रकार घी से आग और अधिक भड़कती है उसी प्रकार भोगों का भोगना भोगों की इच्छा को और भड़काता है।

इसलिए क्रम यह है कि यम-नियमादि के पालन से पहले भोगों से विरत हुआ जाए, फिर धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप संयम के द्वारा

अन्तरंग में प्रवेश किया जाए ताकि आंतरिक आनन्द का स्रोत फूटे। आंतरिक आनन्द का स्रोत प्रवाहित होने पर बाहरी भोग स्वत: ही विरस प्रतीत होने लगते हैं। इस आंतरिक आनन्द के प्रवाह को ही वस्तुत: विभूति कहा गया है। इसीलिए धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन विभूतिपाद में है, क्योंकि ये ही विभूति के कारण हैं। किन्तु साधक को इस आनन्द पर भी रुकना नहीं है क्योंकि यह आनन्द भी चित्तवृत्ति की एकाग्रता से उत्पन्न होने के कारण पराधीन ही है। उसे विभूति से परे जाकर अपने स्वरूप पर टिकना है जो कि गुणातीत है।

इस प्रकार योगसूत्र में चमत्कार का प्रदर्शन तो दूर, चमत्कार उत्पन्न करने की इच्छा का भी निषेध है। जो योगी चमत्कारों का प्रदर्शन करते हैं, वे शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। कुछ तथाकथित योगी तो हाथ की सफाई को चमत्कार बताकर जनता को भ्रमित करते हैं तथा अपनी पोल खुल जाने पर योग को भी बदनाम कर देते हैं। सबसे बड़ा चमत्कार जन्म-मरण के चक्र का टूट जाना है। उसी को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। पानी पर चल सकने जैसे तुच्छ चमत्कारों के लिए योगाभ्यास करना योग का दुरुपयोग है। विभूतिपाद में आगे जिन अलौकिक शक्तियों का विवरण आएगा, उन शक्तियों की प्राप्ति को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए और यदि वे अनायास प्राप्त भी हो जाएँ तो उन पर अटकना नहीं चाहिए।

सूत्र—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ३.९॥

अर्थ—व्युत्थान का अभिभव तथा निरोध के संस्कार का प्रादुर्भाव

इस प्रकार के निरोध के क्षण में चित्त का अन्वित होना निरोध परिणाम कहलाता है।

टिप्पणी—यहाँ असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि को भी व्युत्थान कहा गया है। निरोध यहाँ परवैराग्य को कहा गया है। धर्मीचित्त इन दोनों में अनुगत रहता है।

सूत्र—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ ३.१०॥

अर्थ—(निरोध) संस्कार से उस (चित्त) की शान्त प्रवाह वाली गति होती है।

सूत्र—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य
समाधिपरिणामः॥ ३.११॥

अर्थ—विक्षेप का क्षय और एकाग्रता का उदय चित्त का समाधि परिणाम कहलाता है।

सूत्र—ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ
चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ ३.१२॥

अर्थ—और फिर सदृश वृत्तियों का शान्त तथा उदित होना चित्त का एकाग्रता परिणाम है।

सूत्र—एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः॥ ३.१३॥

अर्थ—इस (चित्त के परिणाम) से भूत और इन्द्रियों में धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम तथा अवस्था-परिणाम की व्याख्या हो गयी।

व्याख्या

चित्त के त्रिविध परिवर्तन—प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को परिणाम कहा जाता है। जब निर्बीज समाधि में चित्त निरुद्ध हो जाता है तब उसका परिणाम कैसा होता है यह बतलाया जाना है। किन्तु इसके पहले यह समझना आवश्यक है कि परिणाम तीन प्रकार के हैं—१. धर्म परिणाम २. लक्षण परिणाम और ३. अवस्था परिणाम।

१. धर्म परिणाम—कुम्हार मिट्टी से नाना प्रकार के बर्तन बनाता है। उन बर्तनों के आकार भिन्न-भिन्न होते हैं। मिट्टी ज्यों की त्यों बनी रहती है किन्तु बर्तनों का आकार बदलता है। आकार धर्म, मिट्टी धर्मी है। जैन दर्शन में धर्म को पर्याय तथा धर्मी को द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य की पर्याय अथवा धर्मी का धर्म बदलना धर्म परिणाम कहलाता है।

२. लक्षण परिणाम—एक धर्म धर्मी में प्रकट होता है, दूसरा धर्म छिपा रहता है। प्रकट धर्म वर्तमान का धर्म है, छिपा हुआ धर्म भविष्य का धर्म है। जब कोई धर्म प्रकट होकर छिप जाता है तो वह भूतकालिक धर्म कहलाता है। काल भेद से धर्मों का परिवर्तन लक्षण परिणाम कहलाता है।

अवस्था परिणाम—कोई पात्र क्रमशः जीर्ण होता हुआ इतना जीर्ण हो जाता है कि छूने पर खिरने लगता है। यह उसका अवस्था परिणाम हुआ। यह अवस्था परिणाम वस्तु में अन्त तक चलता रहता है।

इन परिणामों के स्वरूप को समझने के बाद यह समझना चाहिए कि चित्त के तीन परिणाम हैं—

१. निरोध परिणाम—सामान्यतः क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त चित्त की भूमियों को व्युत्थान कहा जाता है। अत्यन्त चंचल चित्त क्षिप्त कहलाता है, आलसी चित्त मूढ़ और चंचलता के बीच में कभी-कभी जो स्थिरता होती है वह विक्षिप्तता कहलाती है। इन तीनों में ही योग नहीं होता। योग चित्त की एकाग्रता से प्रारम्भ होता है। चित्त की एकाग्रता में पदार्थ का स्वरूप प्रकट होता है, क्लेशों का नाश होता है, बन्धन शिथिल होते हैं और चित्त निरोध की ओर अभिमुख होता है। इसे ही सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है, जबकि चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है। असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि भी व्युत्थान ही है।

व्युत्थान के संस्कारों का दब जाना और निरोध के संस्कारों का प्रकट होना निरोध परिणाम है। इस स्थिति में दबा हुआ व्युत्थान संस्कार और प्रकट होने वाला निरोध संस्कार दोनों ही चित्त में रहते हैं। क्योंकि इस अवस्था में दोनों संस्कार बने रहते हैं इसलिए यह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसमें यद्यपि चित्तवृत्ति, जो संस्कारों का निमित्त कारण है, नष्ट हो जाती है, किन्तु संस्कारों का उपादान कारण, चित्त, बना रहता है। अतः संस्कार नष्ट नहीं होते अपितु बने ही रहते हैं। इसलिए इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। निरोध संस्कार से चित्त का प्रवाह प्रशान्त होता है। निरोध संस्कार जितना दृढ़ होगा चित्त का प्रवाह उतना ही शांत हो जाएगा।

२. समाधि परिणाम—चित्त का सब ओर जाना रुक कर जब एकाग्रता का उदय होता है तो यह समाधि परिणाम है। चित्त भोगों में आसक्ति रखने के कारण अनेक विषयों की ओर जाता है। यह रजोगुण

का कार्य है। जब रजोगुण के दब जाने पर एकाग्रता उत्पन्न होती है तब समाधि परिणाम होता है। एकाग्रता का उदित होना समाधि परिणाम है और एकाग्रता के संस्कारों का भी तिरोभाव निरोध परिणाम है।

३. एकाग्रता परिणाम—जब चित्तवृत्ति एक ही प्रकार की शांत होकर उसी प्रकार की पुनः उदित होती रहती है, तो उसे एकाग्रता परिणाम कहा जाता है।

ये तीन प्रकार के परिवर्तन चित्त में होते हैं। इन्हीं में प्रारम्भ में बताए गए तीनों प्रकार के परिणाम—धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम होते हैं।

सूत्र—शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ ३.१४॥

अर्थ—(उन परिणामों में **)** अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के धर्मों में रहने वाला धर्मी है।

सूत्र—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥ ३.१५॥

अर्थ—परिणाम के भेद में क्रम का भेद हेतु है।

सूत्र—परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥ ३.१६॥

अर्थ—तीन परिणाम (धर्म, लक्षण, अवस्था) पर चित्त एकाग्र करने से अतीत और भविष्य का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या

विभूतियों का वैज्ञानिक रहस्य—ध्यान, धारणा तथा समाधि का एक ही ध्येय बना देना संयम कहलाता है। प्रश्न होता है कि संयम का ध्येय क्या होना चाहिए। उत्तर है कि संयम का ध्येय अर्थात् ध्यान का विषय धर्मी एवं उसका धर्म होना चाहिए। धर्मी नित्य है, धर्म परिणमनशील

है। धर्मों में यह परिवर्तन तीन प्रकार के होते हैं। इन परिवर्तनों के स्वरूप को समझे बिना उन पर चित्त को एकाग्र नहीं किया जा सकता। इसलिए इन तीन प्रकार के परिवर्तनों को समझना आवश्यक है। इन तीन प्रकार के परिवर्तनों पर चित्त के एकाग्र कर देने से वर्तमान के साथ-साथ अतीत और भविष्य का भी ज्ञान योगी को हो जाता है। ये तीनों प्रकार के परिवर्तन अथवा परिणाम भूत तथा इन्द्रियों में होते हैं। इन तीन परिवर्तनों के नाम पहले बता दिए गए हैं—धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम। धर्म परिणाम एक धर्म का अभिभूत होकर दूसरे धर्म का उद्भूत हो जाना है। लक्षण परिणाम एक धर्म का भावी की कोटि से वर्तमान में आकर अतीत की कोटि में चले जाना है। अवस्था परिणाम एक धर्म का सुदृढ़ होकर शनैः शनैः निर्बल हो जाना है।

ये तीनों परिणाम भूतों में भी होते हैं तथा इन्द्रियों में भी होते हैं। एक-एक में इन परिणामों को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है क्योंकि यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रथम धर्म परिणाम को लें। धर्मी के अवस्थित रहते हुए पूर्वधर्म का निवृत्ति होकर अन्य धर्म का प्रवृत्त हो जाना है। चित्त में व्युत्थान संस्कारों की निवृत्ति तथा निरोध संस्कारों की प्रवृत्ति चित्त का धर्म परिणाम है। सांख्य योग में कुछ भी नष्ट या उत्पन्न नहीं होता, अपितु अव्यक्त और व्यक्त ही होता है। चित्त के समान मृत्तिका भी अपने पिण्डरूप धर्म को छोड़कर घटरूप धर्म को स्वीकार करती है तो यह भूत में धर्म परिणाम का उदाहरण हुआ। नेत्रेन्द्रिय एक रूप पीत को छोड़कर यदि दूसरे रूप नील को अपना विषय बनाती है तो यह इन्द्रिय के धर्म परिणाम का उदाहरण हुआ। इस प्रकार चित्त, भूत और इन्द्रिय, तीनों में ही धर्म परिणाम होता है।

दूसरा लक्षण परिणाम है। प्रत्येक परिणाम भविष्य, वर्तमान तथा भूतकालिक होता है। भविष्य को अनागत, वर्तमान को उदित तथा भूत को अतीत कहा जाता है। वर्तमान में उदित होने से पहले वह धर्म भविष्य में छिपा रहता है। भविष्य को छोड़कर वह वर्तमान में प्रकट होता है। फिर वह वर्तमान को छोड़कर अतीत के गर्भ में चला जाता है। यही लक्षण परिणाम का स्वरूप है। चित्त में निरोध संस्कार भविष्य में छिपा रहता है। वह भविष्य को छोड़कर वर्तमान में आता है और अतीत के गर्भ में चला जाता है। यह चित्त का लक्षण परिणाम हुआ। मृत्तिका में घट अनागत काल में छिपा रहता है। वह वर्तमान में प्रकट हो जाता है और फिर अतीत के गर्भ में चला जाता है। यह भूत के लक्षण परिणाम का उदाहरण हुआ। नेत्र में नीलादि रूप का ज्ञान प्रकट होने से पूर्व अनागत, प्रकट होने पर वर्तमान तथा तिरोहित होने पर अतीत हो जाता है। यह इन्द्रिय के लक्षण परिणाम का उदाहरण है। तृतीय परिणाम अवस्था परिणाम है। एक धर्म अनागत से वर्तमान में आने पर दृढ़ होता है और वर्तमान से अतीत में जाने पर निर्बल होता है। यही अवस्था परिणाम है।

मृतिका घटरूप में आने पर दृढ़ होती है, किन्तु पुनः मृत्तिका रूप में ही लौटने तक निर्बल होती जाती है। यही उसका अवस्था परिणाम है। नेत्र में प्रथम नीलादि रूप का ज्ञान स्फुट होता है और फिर अस्फुट होते-होते विलीन हो जाता है। यह इन्द्रियों के अवस्था परिणाम का उदाहरण है। इस प्रकार चित्तवृत्ति, भूत तथा इन्द्रियों में प्रतिक्षण ही तीनों परिणाम होते रहते हैं। किन्तु इन तीनों ही परिणमन में धर्मी अपना स्वरूप छोड़ता नहीं अपितु यथावत् बना रहता है। यही सत्कार्यवाद है जिसमें कारण से कार्य का आविर्भाव तथा तिरोभाव तो होता है, किन्तु

उत्पत्ति तथा उच्छेद नहीं। इन अतीत, वर्तमान तथा भविष्यकालिक धर्मों में अनुस्यूत रहने वाला ही धर्मी कहलाता है। धर्म और धर्मी में भेद प्रतीति में अवश्य आता है किन्तु है वस्तुतः अभेद। वस्तुतः क्रम के भेद से परिवर्तन होता है न कि मूलोच्छेद के कारण। उदाहरणतः मृत्तिका के चूर्ण से पिण्ड बनता है, पिण्ड से घट, घट से कपाल, कपाल से ठीकरे, ठीकरों से फिर चूर्ण। यहाँ क्रम ही बदलता है, मूल तत्त्व नहीं। यही परिवर्तन में निरन्तरता है। चित्त के अनेक परिणमन होते रहते हैं किन्तु वे अधिकांशतः प्रत्यक्ष न होकर अनुमान गम्य हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का निरोध अनुमान गम्य है क्योंकि सब वृत्तियों का निरोध हो जाने पर वृत्तियों का निरोध भी किसी वृत्ति में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

परिणाम पर चित्त एकाग्र करने से यह पता लग सकता है कि अमुक धर्मी में अमुक धर्म उदय होने से पहले यह धर्म किस स्थिति में था तथा वर्तमान से अतीत में जाने पर इस धर्म की क्या स्थिति होगी। यही भूत-भविष्य के जानने का अर्थात् त्रिकालज्ञ होने का रहस्य है।

सूत्र—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्॥ ३.१७॥

अर्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञान का एक दूसरे पर अध्यास होने से सङ्कर होता है : उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान होता है।

सूत्र—संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥ ३.१८॥

अर्थ—संस्कार का साक्षात् करने पर पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

व्याख्या

शब्दार्थ के ज्ञान की प्रक्रिया—जब हम शब्द-व्यवहार करते हैं तो उस व्यवहार के तीन घटक होते हैं। प्रथम घटक शब्द है जो वक्ता की वाणी से निकल कर श्रोता के कानों तक जाता है। दूसरा घटक उस शब्द का अर्थ होता है और तीसरा घटक उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है, जो वक्ता और श्रोता के मन में रहता है। उदाहरणत: गौ शब्द कहने पर ग्+औ ध्वनि उत्पन्न होती है। इस ध्वनि के द्वारा चार टाँगों वाला एक विशेष पशु जाना जाता है, जो पशु गोचर में या बाड़े में रहता है। गौ शब्द को सुनकर हमें गौ पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। स्पष्ट है कि ये तीनों घटक अलग-अलग हैं। शब्द वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय में है, पदार्थ इन दोनों इन्द्रियों से बाहर है और पदार्थ का ज्ञान मन में है। फिर भी हमारा मन इन तीनों को एक ही मान लेता है। परिणामस्वरूप जो हिन्दी भाषा जानता है वह गौ को लाने के लिए कहने पर गौ पशु को ले आता है। यदि गौ शब्द और गौ पदार्थ एक ही होते तो हिन्दी न जानने वाला भी गौ को ले आता, किन्तु ऐसा होता नहीं। अत: शब्द और अर्थ अलग-अलग हैं।

पशु-पक्षी भी जो वाणी बोलते हैं उसमें उन शब्दों का अर्थ और ज्ञान भी रहता है। किन्तु हम उसे जान नहीं पाते क्योंकि हमने शब्द और अर्थ को एक ही मान रखा है। जो योगी शब्द, अर्थ और अर्थ-ज्ञान को अलग-अलग करके उन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है वह पशु-पक्षियों की वाणी का भी अर्थ जान लेता है। पशु-पक्षियों की वाणी का भी अर्थ है। इसीलिए वे वाणी के प्रयोग से भय की अथवा भोजन के उपलब्ध होने की सूचना एक दूसरे को दे सकते हैं। सामान्यत: हम पशु-पक्षी की वाणी का अर्थ नहीं समझ पाते किन्तु यदि हम ध्यान एकाग्र करें तो पशु-पक्षी के मन में किस विचार के होने पर वे किस प्रकार का शब्द

करते हैं, यह ध्यान में आ जाएगा और हम उनकी वाणी का अर्थ समझने लगेंगे। लम्बे समय तक पशु-पक्षी का साहचर्य करने वाले लोग उनके अनेक शब्दों का अर्थ जान जाते हैं। आवश्यकता शब्द और अर्थ पर अलग-अलग ध्यान केन्द्रित करने की है।

एक दूसरी सिद्धि पूर्व-जन्म के ज्ञान की है। जो योगी अपने संस्कारों पर चित्त को एकाग्र कर लेता है वह कारण-कार्य परम्परा से वर्तमान के संस्कार के अतीत में रहने वाले कारण-भूत संस्कार को भी जान लेता है। हमारे वर्तमान का जन्म अतीत से हुआ है। यह अतीत नष्ट नहीं होता, अपितु अवचेतन मन में संस्कार के रूप में बना रहता है। संस्कार पर चित्त एकाग्र करने पर अतीत के विस्मृत संस्कार स्मृति-पटल पर आ जाते हैं। यही पूर्व जन्म के स्मरण हो जाने का रहस्य है। अभिप्राय यह है कि चित्त की एकाग्रता में इतनी शक्ति है कि वह छिपे हुए को भी जान लेता है। संसार में नष्ट कुछ भी नहीं होता, केवल तिरोहित हो जाता है। एकाग्रता से चित्त की वृत्ति इतनी तीक्ष्ण हो जाती है कि वह तिरोहित को भी देख लेती है। चित्त की एकाग्रता ही एकमात्र चमत्कार है, और कोई चमत्कार नहीं। पतञ्जलि के योगसूत्र के विभूति-पाद में चित्त की एकाग्रता से क्या-क्या अद्‌भुत घटनाएँ घट सकती हैं इसी का सूत्र रूप में वर्णन किया गया है।

सूत्र—प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ ३.१९॥

अर्थ—(दूसरे की) चित्तवृत्ति पर चित्त एकाग्र करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।

सूत्र—न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ ३.२०॥

अर्थ—और वह (ज्ञान) (चित्त के) आलम्बन (विषय) सहित नहीं होता, क्योंकि वह (आलम्बन) संयम का विषय नहीं होता।

सूत्र—कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ ३.२१॥

अर्थ—(अपने) शरीर के रूप पर चित्त एकाग्र करने से उस (शरीर) को ग्राह्यशक्ति स्तम्भित होने पर चक्षु का प्रकाश से संयोग न होने से योगी में अन्तर्धान होने की शक्ति आ जाती है।

व्याख्या

चमत्कारों का वैज्ञानिक आधार—विभूतिपाद में पतञ्जलि एक के बाद एक विभूति का वर्णन करते चले जा रहे हैं। इन विभूतियों के वर्णन का यह अर्थ नहीं है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक ये विभूतियाँ प्राप्त करनी चाहिए, अपितु जैसे-जैसे योगी चित्तवृत्ति को एकाग्र करता है वैसे-वैसे कुछ विभूतियाँ उसे अनायास ही प्राप्त होने लगती हैं और योगी को उन विभूतियों में अटक कर नहीं रह जाना चाहिए—इन विभूतियों के वर्णन का केवल इतना ही प्रयोजन है।

एक विभूति है—दूसरों के विचार पता लग जाने की। जैसे योगी निर्विचारता में जाता है उसे दूसरे के विचार विदित होने लगते हैं। सामान्य अवस्था में हम अपने ही विचारों में उलझे हैं किन्तु जब अपने विचार रुक जाते हैं तो निर्विचार चित्त में दूसरों के विचार प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। इस प्रकार दूसरों के विचार जान लेने पर भी उस विचार की पृष्ठभूमि में रहने वाला आशय नहीं जाना जाता। उदाहरणतः योगी इतना जानता है कि दूसरे का चित्त राग-द्वेष-युक्त है या राग-द्वेष-मुक्त। यह पता नहीं लगता है कि उसके राग-द्वेष का विषय क्या है? नियम यह

है कि मुखाकृति आदि के द्वारा राग-द्वेष का अनुमान हो जाता है और उस राग-द्वेष पर चित्त एकाग्र करने से दूसरे के चित्त की राग-द्वेष-युक्तता भी जान ली जाती है। किन्तु यदि राग-द्वेष के विषय पर चित्त को एकाग्र किया जाए तो राग-द्वेष विषय भी जाना जा सकता है।

पतञ्जलि हर विभूति का विशुद्ध वैज्ञानिक कारण देते हैं। वे चमत्कार के नाम पर किसी प्रकार के अन्धविश्वास को बिल्कुल प्रश्रय नहीं देते। उदाहरणतः वे अन्तर्धान होने की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। हम किसी पदार्थ को इसलिए देख पाते हैं कि सूर्य की किरणें उस पदार्थ पर पड़ कर परावर्तित होकर हमारी आँखों तक आती हैं। यदि कोई योगी अपने शरीर के रूप पर चित्त को एकाग्र करके सूर्य की सभी किरणों को शरीर में जज्ब कर ले तो वे किरणें शरीर से परावर्तित होकर आँखों तक नहीं जा पाएँगी और ऐसा व्यक्ति दिखना बन्द हो जाएगा। यही अन्तर्धान होने की प्रक्रिया है। इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव अँधेरे में किया जा सकता है जहाँ सूर्य की किरणें न होने पर किसी भी पदार्थ का रूप दिखाई नहीं देता।

योगी को चित्तवृत्ति एकाग्र करने में बहुत ऊर्जा लगानी पड़ती है। ऊर्जा का मूल स्रोत सूर्य है। योगी जाने या अनजाने में ऊर्जा की प्राप्ति के लिए सूर्य की सभी किरणों को उपयोग में ले लेता है और इसलिए कोई भी किरण शरीर से परावर्तित हो बाहर नहीं जा पाती और योगी सहज ही अन्तर्धान हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पतञ्जलि सामान्य लोगों में चमत्कार के रूप में प्रचलित घटनाओं की ऐसा व्याख्या कर देते हैं जो आधुनिक विज्ञान से पूर्णतः समर्थित है। किसी भी अवस्था में सभी घटनाएँ प्रकृति

के नियम के अनुकूल ही होती हैं, प्रकृति के सार्वभौम नियमों का उल्लघंन कहीं भी और कभी भी नहीं होता। यह बात अलग है कि हम उन नियमों को न जानने के कारण उन्हें चमत्कार मान लेते हैं।

सूत्र—सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ ३.२२॥

अर्थ—प्रारब्ध तथा अनारब्ध दो प्रकार के कर्मों पर संयम करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु के समय का ज्ञान होता है।

सूत्र—मैत्र्यादिषु बलानि॥ ३.२३॥

अर्थ—मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

सूत्र—बलेषु हस्तिबलादीनि॥ ३.२४॥

अर्थ—बलों में संयम करने से हाथी आदि का बल प्राप्त होता है।

सूत्र—प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥ ३.२५॥

अर्थ—ज्योतिष्मती प्रकाश के डालने से सूक्ष्म व्यवहित और दूर के पदार्थ का ज्ञान होता है।

सूत्र—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ ३.२६॥

अर्थ—सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है।

व्याख्या

अपनी मृत्यु का समय जानिये—मृत्यु एक ऐसी घटना है, जिसका हमें कोई पूर्वाभ्यास नहीं होता। पतञ्जलि मृत्यु का काल जानने का उपाय बताते हैं। हमने शरीर कर्म करने को ही धारण नहीं किया है, अपितु कर्मों को भोगने के लिए भी शरीर आवश्यक है। जब कोई कर्म

निकट भविष्य में तथा वर्तमान में भोगने को शेष नहीं रह जाता, तब शरीर का कोई प्रयोजन नहीं रहने से शरीर छूट जाता है, यही मृत्यु है।

कुछ कर्म जल्दी फल देने वाले होते हैं, कुछ देर से फल देते हैं। देर से फल देने वाले कर्म प्रतीक्षा कर सकते हैं कि उनका फल अगले जन्म में मिल जाएगा। जल्दी फल देने वाले कर्मों को इसी जन्म में भोगना होता है। यदि चित्त की एकाग्रता अर्थात् संयम द्वारा यह जाना जा सके कि हमारे देर से फल देने वाले कर्म ही शेष रह गए हैं तथा जल्दी फल देने वाले कर्म अमुक समय अपना फल दे चुकेंगे, तो हम अपनी मृत्यु का समय जान सकेंगे। मृत्यु का समय पता लगने पर हम तदनुसार योजना भी इस प्रकार बना सकेंगे कि सभी अवश्यकरणीय काम मृत्यु से पहले पूरे कर लिए जाएँ।

मृत्यु को जानने के कुछ अन्य उपाय भी हैं। यदि दोनों कानों को उँगली से बन्द करने पर जो शब्द सुनाई पड़ता है, वह शब्द सुनना बन्द हो जाए तो जान लेना चाहिए कि छह माह के भीतर मृत्यु हो जाएगी। वह शब्द वैश्वानर अग्नि का है। उस शब्द सुनना बन्द होने का अर्थ है कि वैश्वानर अग्नि शान्त होने लगी है। वैश्वानर अग्नि के बिना जीवन सम्भव नहीं है। अत: उस शब्द का सुनना बन्द हो जाना मृत्यु का सूचक है। इसी प्रकार मृत्यु से पहले नासिका का अग्रभाग शिथिल होकर टेढ़ा हो जाने के कारण स्वयं को दिखना बन्द हो जाता है, यह भी इस बात का सूचक है कि मृत्यु निकटवर्ती है। आँखों को हाथों से बन्द करने पर ज्योति कण दिखाई देते हैं। यदि ये दिखने बन्द हो जाएँ तो भी इसे मृत्यु की पूर्व सूचना समझनी चाहिए। मृत पुरुषों का प्रत्यक्षवत् दिखाई देना भी मृत्यु का पूर्व सूचक है।

यदि संसार में मृत्यु न होती तो मैत्री, करुणा और प्रमोद भावना भी न होती। हम स्वयं नश्वर हैं, इस ज्ञान से हमारा अहंकार मिटता है और मैत्री, करुणा और प्रमोद भावना का उदय होता है। इन भावनाओं पर संयम करने से हममें यह शक्ति आ जाती है कि हम सब प्राणियों के मित्र बन कर उन्हें सुख दे सकें तथा उन पर करुणा करके उनका दु:ख दूर कर सकें एवं उनके सुख में भागीदार बन सकें।

ध्यान का ऐसा नियम है कि हम जिस वस्तु का ध्यान करते हैं, उसी वस्तु के गुण हममें आ जाते हैं। हाथी, सिंह आदि में बल है, इन पर ध्यान केन्द्रित करने से हममें भी बल आ जाता है।

ध्यान करने पर एक दिव्य ज्योति सी प्रकट होती है। इस ज्योति को जहाँ केन्द्रित करें, वहीं सूक्ष्म व्यवहित और दूर के पदार्थ भी ज्ञात होने लगते हैं। प्रकाश का काम पदार्थों को प्रकाशित करना है। योगी को दिव्य दिखने वाली दिव्य ज्योति अत्यन्त शक्तिशाली होती है अत: उसे वे पदार्थ भी दिखाई दे जाते हैं, जो सामान्य प्रकाश में दिखाई नहीं देते।

सौर मंडल के केन्द्र में सूर्य है। केन्द्र के पकड़ लिए जाने पर परिधि के पदार्थ भी स्वयं भी पकड़ में आ जाते हैं। सूर्य पर चित्त केन्द्रित करने से सात ऊर्ध्व लोक—भू, भुव:, स्व:, मह, जन:, तप: और सत्य तथा सात अधोलोक—महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, इन चौदह भुवनों का ज्ञान हो जाता है। नियम यह है कि जैसा ब्रह्माण्ड में है, वैसा पिण्ड में है। पिण्ड में सुषुम्ना नाड़ी सूर्य का प्रतिनिधित्व करती है। इस नाड़ी पर ध्यान करने से पिण्ड अर्थात् शरीर के रहस्य उद्घाटित हो जाते हैं। इसी प्रकार आगे पतञ्जलि भिन्न-भिन्न स्थानों पर चित्त को केन्द्रित करने के भिन्न-भिन्न फल बताएँगे।

सूत्र—चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥ ३.२७॥

अर्थ—चन्द्रमा में संयम करने से ताराओं के स्थान का ज्ञान होता है।

सूत्र—ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ ३.२८॥

अर्थ—ध्रुव में संयम करने से उन ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

सूत्र—नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ ३.२९॥

अर्थ—नाभि चक्र में संयम करने से शरीर की संरचना का ज्ञान होता है।

सूत्र—कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः॥ ३.३०॥

अर्थ—कण्ठ कूप में संयम करने से भूख, प्यास दूर होती है।

सूत्र—कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३.३१॥

अर्थ—कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है।

सूत्र—मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३.३२॥

अर्थ—मूर्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है।

सूत्र—प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३.३३॥

अर्थ—प्रातिभ ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है।

सूत्र—हृदये चित्तसंवित्॥ ३.३४॥

अर्थ—हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या

विभूतियों का वैज्ञानिक आधार—योगसूत्र के विभूति पाद में भिन्न-भिन्न स्थानों पर संयम करने से भिन्न-भिन्न सिद्धियों की प्राप्ति

का वर्णन है। इन सभी स्थलों में किस स्थान पर संयम करने से कौन सी विभूति मिलती है, इसका वैज्ञानिक विश्लेषण है। सूर्य से समस्त सौरमंडल प्रकाशित होता है। अतः सूर्य पर ध्यान केन्द्रित करने से सौर मंडल का ज्ञान होता है। किन्तु सूर्य के प्रकाश में तारों का स्वरूप अभिभूत हो जाता है। अतः सूर्य के प्रकाश में तारे दिखाई नहीं देते। तारों को देखने के लिए चन्द्रमा पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। शरीर में सुषुम्ना सूर्य का और चन्द्र इड़ा का प्रतीक है। सूर्य पर संयम करने के लिए दाएँ नासापुट से लेने वाले श्वास पर ध्यान करना चाहिए। चन्द्रमा पर ध्यान करने के लिए बाएँ नासापुट के श्वास पर ध्यान करना चाहिए।

एक नियम है कि यदि हम गतिशील के साथ स्वयं भी गति करें तो हमें गति का ज्ञान नहीं होगा। हम पृथ्वी के साथ स्वयं भी गति करते हैं। इसलिए हमें पृथ्वी की गति का ज्ञान नहीं होता। यदि हम पृथ्वी के सामने स्थिर खड़े हो सकें तो हमें पृथ्वी घूमती दिखाई देगी। इसी नियम के अनुसार यदि हम ध्रुव पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें तो, हमें तारों की गति का ज्ञान हो सकेगा। क्योंकि ध्रुव अपेक्षाकृत स्थिर है। हमारे शरीर में हमारा साक्षिभाव ध्रुव है। उस साक्षिभाव पर चित्त एकाग्र करने से शरीर में होने वाली गति का ज्ञान होता है।

शरीर के केन्द्र में नाभि है। नाभि पर चित्त एकाग्र करने से सम्पूर्ण शरीर मंडल पकड़ में आ जाता है। भूख और प्यास का केन्द्र कण्ठकूप है, जिस पर ध्यान करने से भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है। कण्ठकूप से नीचे कूर्म नाड़ी है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से स्थिरता आती है। सिर के ऊपरी भाग में मूर्धा में सहस्रार दल कमल है। इसमें ज्योति का ध्यान करने से पृथ्वी और आकाश के बीच स्थित सिद्धों का दर्शन होता है। सिद्ध ज्योति रूप है और मूर्धा में भी ज्योति दिखती

है। मूर्धा में ध्यान केन्द्रित होने का अर्थ है ऊर्जा का ऊर्ध्वमुखी हो जाना।

सूर्य बुद्धि है, चन्द्रमा अन्तर्दृष्टि है। बुद्धि तर्क से चलती है। चन्द्रमा अन्तर्दृष्टि, अनुभव पर आधारित है। इन दोनों का समन्वय प्रातिभ ज्ञान है। प्रकृति का ज्ञान कारण-कार्य सम्बन्ध से होता है, वह तर्क का विषय है। आत्मा कारण-कार्य सम्बन्धातीत है। वह अन्तर्दृष्टि का विषय है। प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ नहीं है और क्योंकि प्रातिभ ज्ञान में तर्क बुद्धि और अन्तर्दृष्टि दोनों रहते हैं इसलिए प्रातिभ ज्ञान से सब कुछ साक्षात् जान लिया जाता है। हृदय पर ध्यान केन्द्रित करने से अपने और दूसरों के चित्त में चलने वाली गतिविधियों का भी ज्ञान हो जाता है, क्योंकि सब गतिविधियाँ हृदय से ही सञ्चालित होती हैं।

इस प्रकार पतञ्जलि सभी विभूतियों का सम्बन्ध हेतु देकर भिन्न-भिन्न संयमों से बताते हैं। यह उनकी दृष्टि की वैज्ञानिकता का प्रमाण है।

सूत्र—सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः, परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्॥ ३.३५॥

अर्थ—अत्यन्त भिन्न चित्त और पुरुष में अभेद की प्रतीति भोग है, इनमें से परार्थ प्रतीति से भिन्न स्वार्थ (पुरुष) पर संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

सूत्र—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३.३६॥

अर्थ—उस (स्वार्थ संयम) के अभ्यास से मन, श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण इन्द्रियों में दिव्य विषयों के जानने की योग्यता उत्पन्न होती है।

सूत्र—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३.३७॥

अर्थ—ये (सिद्धियाँ) व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं। (किन्तु) समाधि में विघ्न हैं।

व्याख्या

पुरुष ज्ञान उपयोगी, शेष सिद्धियाँ बाधक—योगसूत्र के विभूति पाद में जिन विभूतियों का वर्णन है इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण विभूति है पुरुष का ज्ञान।

सत्व भी प्रकाश रूप है और पुरुष भी ज्ञान-स्वरूप है। अत: दोनों में अभेद की प्रतीती होने लगती है किन्तु वस्तुत: ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। सत्व परिणामी है, पुरुष अपरिणामी, सत्व जड है, पुरुष चेतन। पुरुष के सान्निध्य मात्र से चित्त में दु:ख-सुख और मोह का उदय होता है। किन्तु इनका अध्यारोप पुरुष में कर लिया जाता है। यह चित्त और पुरुष के अभेद प्रतीति का कारण है। इसे ही भोग कहा जाता है। इस भोग से भिन्न पुरुष का ज्ञान है। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा हिलता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह वस्तुत: हिलता नहीं, उसी प्रकार सुख-दु:खादि का भोग चित्त में होता है किन्तु वह पुरुष में आरोपित हो जाता है। यही भोग की व्याख्या है। अर्थात् भोक्ता न होने पर भी पुरुष भोक्ता कहलाने लगता है। इसके विपरीत पुरुष का अपना ज्ञान पुरुष को ही होता है। जब साधक इस ज्ञान पर अपना चित्त एकाग्र करता है तो पुरुष विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है। भोग परार्थ है, अर्थात् बुद्धि के लिए नहीं, किन्तु पुरुष विषयक ज्ञान स्वार्थ है वह किसी और के लिए नहीं।

पुरुष का ज्ञान होने के पूर्व कुछ और सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं जो गौण हैं। उदाहरणत: मन में सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ तथा भूत और भविष्यत् के पदार्थों को जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। श्रोत्रेन्द्रिय

से दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता आ जाती है तथा त्वक् दिव्य स्पर्श को जान लेती है। नेत्रों में दिव्य रूप दिखने की योग्यता आ जाती है। रसना दिव्य रस जान लेती है तथा घ्राणेन्द्रिय दिव्य गंध सूँघ लेती है।

हमारी इन्द्रियाँ जानने का साधन हैं किन्तु जानने वाला इन्द्रियों से परे है। जैसे हम खिड़की के माध्यम से देखते हैं किन्तु खिड़की देखती नहीं है। जब तक खिड़की के माध्यम से देखा जाता है तब तक हमें आकाश का एक खण्ड ही दिखाई देता है किन्तु कमरा छोड़कर बाहर आने पर हमें आकाश का वह प्रदेश भी दिखाई देने लगता है, जो खिड़की से दिखाई नहीं दे रहा था। इसी प्रकार पुरुष का ज्ञान होने पर इन्द्रियों का माध्यम गौण हो जाता है और हमें वे शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद और गंध भी ज्ञात होने लगते हैं, जो सामान्य इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते।

संयम से होने वाला पुरुष का ज्ञान तो उपयोगी है, किन्तु दिव्य शब्दादि का ज्ञान उन्हें ही उपयोगी नजर आता है, जिनका चित्त चंचल है। जो परम सत्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए तो दिव्य शब्दादि का ज्ञान भी समाधि में बाधक ही है। क्योंकि इस ज्ञान से चित्त में हर्ष, अहंकार और आश्चर्य उत्पन्न होता है जो समाधि को शिथिल कर देता है, अत: साधक को इन सिद्धियों पर अटकना नहीं चाहिए।

सूत्र—बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश:॥ ३.३८॥

अर्थ—बन्धन के कारण की शिथिलता से विचरण करने के जानने के मार्ग को जानने पर चित्त दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है।

सूत्र—उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥ ३.३९॥

अर्थ—उदान वायु के जीतने पर जल, कीचड़ और काँटों में असंग रहना और ऊर्ध्व गति होती है।

सूत्र—समानजयाज्ज्वलनम्॥ ३.४०॥

अर्थ—समान के जीतने पर योगी दीप्तिमान् होता है।

सूत्र—श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्॥ ३.४१॥

अर्थ—श्रोत्र और आकाश के संयम करने पर दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है।

सूत्र—कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ३.४२॥

अर्थ—शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से तथा हल्की वस्तु पर एकाग्रता से आकाश-गमन की सिद्धि प्राप्त होती है।

सूत्र—बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥ ३.४३॥

अर्थ—चित्तवृत्ति का शरीर से बाहर वस्तुतः टिक जाना महाविदेह कहलाता है जिससे प्रकाश का आवरण भी क्षय हो जाता है।

व्याख्या

कुछ विशिष्ट सिद्धियों का रहस्य—बन्धन के कारणों में से एक मुख्य कारण है—अपने आपको शरीर समझ लेना। शरीर का ही एक सूक्ष्म रूप है—मन। न शरीर पूर्ण है, न मन पूर्ण है। हम शरीर और मन को जोड़ लेते हैं तो अपने आपको पूर्ण समझ लेते हैं। यही बन्धन का कारण बन जाता है। शरीर और मन की अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न कभी सफल नहीं होता, जिस प्रकार धोकर कभी भी कीचड़ को

साफ नहीं किया जा सकता। अपूर्णता का नाम ही शरीर और मन है। यह अपूर्णता ही हमें वासना में ढकेल देती है।

जैसे-जैसे हम शरीर से अपना तादात्म्य सम्बन्ध शिथिल करते हैं, वासनाएँ कम होती जाती हैं। इस प्रकार हम शरीर के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। यह पहली सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी शरीर से निकलने और शरीर में प्रवेश करने के मार्ग को जानना है। ये दोनों सीढ़ियाँ पार कर लें तो योगी अपने शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकाल कर दूसरे के शरीर में डाल सकता है। जब सूक्ष्म शरीर दूसरे शरीर में जाता है तो उसके साथ इन्द्रियाँ भी यथा-स्थान प्रवेश कर जाती हैं। इस सिद्धि के प्राप्त होने से योगी यह समझ लेता है कि शरीर उसके रहने का स्थान मात्र है, वह स्वयं शरीर नहीं है।

सामान्यतः हम श्वास के साथ आने-जाने वाली वायु को प्राण समझ लेते हैं, किन्तु प्राण एक सूक्ष्म ऊर्जा है। वायु उसकी केवल वाहिका है। यह प्राण पाँच प्रकार की क्रिया करता है। प्राण के रूप में यह श्वास-प्रश्वास को गति देता है, अपान के रूप में यह नीचे की ओर गति देकर मल-मूत्रादि का विसर्जन करता है, समान के रूप में यह भोजन पचाता है, व्यान के रूप में यह समस्त शरीर में गति देता है तथा उदान के रूप में यह ऊर्ध्व गति करवाता है। इनमें से यदि उदान पर संयम किया जाए तो योगी पृथ्वी के ऊपर उठ जाता है और जल, कीचड़ तथा काँटों में फँसता नहीं। समान पर संयम करने से उसका शरीर अग्नि के समान देदीप्यमान हो जाता है। हमारी श्रोत्रेन्द्रिय आकाश रूप है उसका महाआकाश से सम्बन्ध है। यदि इस सम्बन्ध पर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो आकाश में रहने वाले समस्त शब्द सुनाई पड़ सकते हैं।

इसी प्रकार यदि शरीर और आकाश का सम्बन्ध ध्यान का विषय बना लिया जाए और हल्के रूई आदि पदार्थों में ध्यान केन्द्रित किया जाए तो योगी आकाश गमन कर सकता है। शरीर और आकाश में आधेय और आधार सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण शरीर आकाश से कहीं भी जा सकता है। यही आकाश-गमन सिद्धि का रहस्य है। आवश्यकता शरीर के आकाश से सम्बन्ध जान लेने की है।

सूत्र—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्

भूतजयः॥ ३.४४॥

अर्थ—(पाँच भूतों के) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्ता में संयम करने से भूतों पर विजय प्राप्त होती है।

सूत्र—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मा-नभिघातश्च॥ ३.४५॥

अर्थ—उससे अणिमादि का प्रादुर्भाव, काय की सम्पत् और (पाँच भूतों के) धर्मों से चोट न लगना होता है।

सूत्र—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ३.४६॥

अर्थ—काय-सम्पत् का अर्थ है रूप, लावण्य, बल और वज्र-सी दृढ़ शरीर-रचना।

सूत्र—ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ३.४७॥

अर्थ—विषयाभिमुख वृत्ति, इन्द्रियों का प्रकाश-तत्त्व, अहंकार, तीन गुण और भोग तथा अपवर्ग में संयम करने से इन्द्रियों पर विजय होती है।

सूत्र—ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥ ३.४८॥

अर्थ—(इन्द्रियजय) से मन के समान वेग, बिना शरीर इन्द्रियों में काम करने की क्षमता और प्रकृति पर विजय प्राप्त होती है।

सूत्र—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च॥ ३.४९॥

अर्थ—चित्त और पुरुष के भेद जानने मात्र पर समस्त भावों का स्वामित्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है।

सूत्र—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ३.५०॥

अर्थ—उस (विवेकख्याति) से भी वैराग्य होने पर, दोषों के बीज नष्ट होने पर कैवल्य प्राप्त होता है।

सूत्र—स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं

पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ३.५१॥

अर्थ—अपने स्थान के अधिष्ठाता देवताओं द्वारा सम्मानित होने पर आसक्ति अथवा अभिमान नहीं करना क्योंकि उससे फिर अनिष्ट हो सकता है।

व्याख्या

विभूतियों के पार—अब तक ब्रह्माण्ड में नक्षत्र, तारा आदि तथा पिण्ड में शरीर संरचना का ज्ञान करानेवाली सिद्धियों का तथा समाधि में सहायक दिव्यानुभूतियों का वर्णन हुआ। अब पतञ्जलि आत्मदर्शन में सहायक कतिपय सिद्धियों का वर्णन करेंगे।

साधना में सहायक प्रथम विभूति भूतजय है। भूत का अर्थ है—मैटर। मनुष्य सदेह रूप में चेतन और जड का समन्वित रूप है। चेतन तक पहुँचने के लिए सर्वप्रथम इस जड भूत पर ही विजय प्राप्त करना

आवश्यक है। प्रश्न होता है कि भूतों पर विजय कैसे प्राप्त की जाए, तो पतञ्जलि के पास सभी समस्याओं का समाधान संयम है। भूतों पर संयम अर्थात् चित्त एकाग्र करने से भूतों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। पृथ्वी आदि पाँच भूतों के पाँच रूप हैं—१. प्रथम तो उसका अपना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—यह स्थूल रूप है। २. दूसरा उनका अपना स्वरूप है। पृथ्वी का मूर्त, जल का स्नेह, अग्नि की स्थूलता, वायु की गतिशीलता, आकाश का अवकाश देना तत्तद् भूतों का अपना स्वरूप है। ३. पृथ्वी की गंधतन्मात्रा, जल की रसतन्मात्रा, अग्नि की रूपतन्मात्रा, वायु की स्पर्शतन्मात्रा तथा आकाश की शब्दतन्मात्रा तत्तद् भूतों का कारण है। यह उनका सूक्ष्म रूप है। ४. पाँचों भूतों में सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकाश, क्रिया और स्थिति रूप धर्मों सहित अन्वित रहते हैं यह उनका अन्वय रूप है। ५. पाँचों भूतों का प्रयोजन भोग तथा अपवर्ग है—यही उनका अर्थवत्त्व है।

इन भूतों के अपने-अपने धर्म हैं। पृथ्वी के ग्यारह धर्म हैं—आकार, भारीपन, रूखापन, आवृत्त करना, स्थिरता, सर्वभूताधारता, विदारण, सहिष्णुता, कृशता, कठिनता, सर्वभोग्यता। स्नेह, सूक्ष्मता, प्रभा, शुक्लता, मृदुता, भारीपन, शीतलता, रूक्षता, पवित्रता, सम्मेलन—ये जल के धर्म हैं। अग्नि के आठ धर्म हैं—उष्णता, ऊर्ध्व गति, पवित्रता, दाहकता, पवित्रता, लघुता, प्रकाशकता, प्रध्वंसनशीलता, ओजस्विता। वायु के भी आठ धर्म हैं—तिर्यग्गमन, पवित्रता, आक्षेप, कम्पन, बल, चञ्चलता, रूपराहित्य, रूखापन। आकाश के तीन धर्म हैं—सर्वव्यापकता, विभाजन, अवकाश प्रदान करना।

इन धर्मों सहित भूतों के उपर्युक्त पाँच रूपों पर संयम करने से अर्थात् चित्त एकाग्र करने से भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है अर्थात् भूत

साधक के अनुकूल व्यवहार करने लगते हैं। महापुरुषों के चरित्र में ऐसी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं कि किस प्रकार प्रकृति उनके अनुकूल व्यवहार करती थी। यह भूतों पर चित्त एकाग्र करने का फल है।

पतञ्जलि ने दो सूत्रों में भूतजय से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया है। भूतजय कर लेने वाला योगी शरीर को सूक्ष्म, हल्का और बड़ा कर लेता है। वह जिस पदार्थ को चाहे प्राप्त कर लेता है। ये सिद्धियाँ भूतों में संयम करने से प्राप्त होती हैं। भूतों के स्वरूप में संयम करने से योगी की इच्छा बिना रुकावट के पूर्ण हो जाती है। भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने से भूत भौतिक पदार्थ वश में आ जाते हैं। भूतों के अन्वय में संयम करने से भूत पदार्थों को उत्पन्न करने की तथा नष्ट करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। भूतों के अर्थवत्त्व में संयम करने से योगी का प्रत्येक ऐसा संकल्प, जो ईश्वरेच्छा के प्रतिकूल न हो, पूरा हो जाता है। इसके अतिरिक्त योगी के मार्ग में भूत बाधा नहीं डालते। उस योगी को कायसम्पत् भी प्राप्त हो जाती है। कायसम्पत् का अर्थ है—सुन्दरता, कान्ति, बल और अवयवों की दृढ़ता। जिस प्रकार भूत के पाँच रूप हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के भी पाँच रूप हैं—१. प्रथम इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति है जिसे ग्रहण कहा जाता है। २. दूसरा इन्द्रियों का अपना स्वरूप है जैसे नेत्र का नेत्रत्व। इसे स्वरूप कहते हैं। ३. तीसरा अहंकार, जो सामान्य है तथा इन्द्रियाँ जिसकी विशेष हैं। इसे अस्मिता कहा जाता है। ४. चतुर्थ सत्त्व, रजस्, तमस् जो इन्द्रियों में अन्वित है। ५. पंचम भोग और अपवर्ग जो इन्द्रियों का प्रयोजन अथवा अर्थवत्त्व है। इन पाँचों रूपों पर संयम करने से इन्द्रियजय नाम की सिद्धि मिल जाती है। इन्द्रिय जय का अर्थ है कि मन के समान वेग, शरीर के बिना भी इन्द्रियों में अपना-अपना कार्य करने की क्षमता का आ जाना तथा समस्त

कारणकार्यभाव पर विजय। इनमें ग्रहण के संयम से मन के समान वेग, स्वरूप के संयम से शरीर के बिना इन्द्रियों की अपना कार्य करने की क्षमता, तथा अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व के संयम से शरीर के बिना इन्द्रियों की अपना कार्य करने की क्षमता, तथा अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व के संयम से कारण-कार्य-भाव पर विजय प्राप्त होती है। ये सिद्धियाँ मधु प्रतीक कहलाती हैं। भूत ग्राह्य है, इन्द्रियाँ ग्रहण हैं तो चित्त गृहीता है। इनमें भूत और इन्द्रियों के संयम का फल बताने के बाद चित्त पर संयम का फल बताते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त और पुरुष के भेद को जानने पर सब भावों का अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञातृत्व की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसे विशोका सिद्धि कहते हैं। सर्वज्ञातृत्व का अर्थ सभी पदार्थों के भूत, भविष्य तथा वर्तमान गुणों का ज्ञान है। सर्व भावों के अधिष्ठाता होने का अर्थ है अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिवनिवेश का समाप्त हो जाना।

विवेक-ख्याति भी एक चित्तवृत्ति है, जब इस चित्तवृत्ति के प्रति भी योगी विरक्त जाता है तब सारे दोषों के बीज का नाश हो जाता है और कैवल्य उत्पन्न हो जाता है। विवेक-ख्याति सत्त्व का धर्म है और सत्त्व आत्मा नहीं है, आत्मा तो शुद्ध अपरिणामी है। अत: विवेक-ख्याति भी त्याज्य ही है। जिस प्रकार सुई से काँटा निकाल देने पर सुई भी निकाल दी जाती है, उसी प्रकार विवेक-ख्याति से क्लेश का नाश कर देने पर विवेक-ख्याति भी हेय हो जाती है। इस अवस्था में चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है। इस प्रकार पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग ही उसका कैवल्य है।

सूत्र—क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ३.५२॥

अर्थ—क्षण और उसके क्रमों में संयम करने से विवेक से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान पैदा होता है।

सूत्र—जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥ ३.५३॥

अर्थ—उस विवेक से उत्पन्न ज्ञान से दो समान वस्तुओं में, जाति, लक्षण और देश के द्वारा भेद का पता न चलने पर भी पता चल जाता है।

सूत्र—तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ३.५४॥

अर्थ—विवेक ज्ञान बिना निमित्त सब विषयों का सब प्रकार से बिना क्रम के ज्ञान करा देता है।

सूत्र—सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥ ३.५५॥

अर्थ—चित्त और पुरुष की समान रूप से शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।

व्याख्या

क्षण पर संयम तथा चित्तशुद्धि का अर्थ—जिस प्रकार द्रव्य का छोटे से छोटा जो अविभाज्य खण्ड होता है, वह परमाणु कहलाता है, उसी प्रकार काल का छोटे से छोटा अविभाज्य खण्ड क्षण कहलाता है। यह क्षण एक के बाद एक आता-जाता है। इसे क्षण का क्रम कहते हैं। विशेषता यह है कि काल क्योंकि सदा चलायमान रहता है इसलिए एक बार में एक क्षण का अस्तित्व हो पाता है। वर्तमान के क्षण में अतीत के क्षण का अस्तित्व शेष नहीं रहता और भावी क्षण अभी उत्पन्न नहीं

होता। परिणामत: यद्यपि वस्तुत: वास्तविक क्षण तो एक ही होता है, किन्तु अज्ञानवश सामान्य मनुष्यों को घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, मास आदि प्रतीति में आते हैं। जबकि इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। काल क्योंकि कभी रुकता नहीं है अत: क्षणों का यह प्रवाह सदा अविच्छिन्न बना रहता है। क्षणों का यह क्रम योग की भाषा में शब्दज्ञान पर आश्रित है, वस्तुस्वरूप पर नहीं, अत: इसे विकल्प कहा जाता है।

जो भी परिणाम होता है वह वर्तमान के एक क्षण में ही होता है। योगी जब क्षण तथा क्षण के क्रम पर संयम करता है तो उसे विवेक ज्ञान हो जाता है। विवेक का अर्थ भेद है। भेद तीन कारणों से होता है—जाति, लक्षण और देश। गौ और महिषी में जाति के कारण भेद प्रतीत होता है। सफेद गौ और कपिल रंग की गौ में लक्षण के कारण भेद प्रतीत हो जाता है। जहाँ जाति और लक्षण समान हों वहाँ देश से भेद पता चलता है। उदाहरणत: दो आँवले हैं। दोनों की जाति तो एक है ही, दोनों का आकार-प्रकार भी समान है तो उनमें एक आँवला पूर्व में रखा है, दूसरा उत्तर में, अत: दोनों में देशगत भेद है। अभी यदि कोई, किसी की आँख बचाकर पूर्व का आँवला उत्तर में और उत्तर का पूर्व में रख दे तो वह यह पहचान नहीं पाएगा कि कौन सा आँवला पूर्व का है और कौन सा उत्तर का, किन्तु योगी यह पहचान लेगा। यह विवेकज ज्ञान का फल है। यह विवेकज ज्ञान भी एक विभूति है।

इस विभूति का हेतु यह है कि पूर्व का आँवला जिस देश में है वहाँ क्षण सहित है और उत्तर का आँवला भी क्षण सहित है। क्षण पर संयम करने से योगी क्षण को पहचान लेता है। अब यदि आँवलों का देश बदल दिया जाए तो भी अपने-अपने क्षण की पहचान के कारण योगी जान लेगा कि अमुक आँवला पहले अमुक देश में रखा था।

एक परमाणु में भी दूसरे परमाणु से जाति अथवा लक्षण का भेद नहीं होता, दोनों की एक ही जाति होती है और आकार-प्रकार भी एक सा ही होता है। फिर भी योगी दोनों के क्षण सहित देश के भिन्न होने के कारण दोनों की भिन्नता को जान लेता है। यह शक्ति सामान्य व्यक्ति में नहीं होती। इस प्रकार योग वैशेषिक के समान एक परमाणु को दूसरे से भिन्न करने के लिए विशेषनामक पदार्थ की आवश्यकता नहीं मानता।

मूल प्रकृति में न आकृति का, न व्यवधान का और न जाति का भेद रहता है, अत: वहाँ भेद नहीं किया जा सकता।

यह विभूति के रूप में विवेकज ज्ञान का वर्णन है। यह ज्ञान किसी योगी को हो भी सकता है और किसी को नहीं भी हो सकता। जो विवेक-ख्याति कैवल्य के लिए अनिवार्य है वह प्रकृति और पुरुष में भेद रूप है। उसका होना तो कैवल्य-प्राप्ति के लिए अपरिहार्य है, किन्तु जो एक परमाणु की दूसरे परमाणु से भेद की पहचान की विभूति है, वह हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती, इसका होना अनिवार्य नहीं। यदि प्रकृति और पुरुष में ही भेद न कर पाएगा तो साधक अपने को प्रकृति ही समझता रहेगा। ऐसी स्थिति में कैवल्य कैसे सम्भव है। विवेकज ज्ञान बिना किसी निमित्त के होता है। यह संसार से तारने वाला है। सूक्ष्म से सूक्ष्म महदादि इसके विषय हैं। यह उन सभी विषयों की सभी अवस्थाओं को जानता है। यह ज्ञान बिना क्रम के युगपत् होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा इसका एक अंश मात्र है। प्रश्न होता है कि कैवल्य का हेतु क्या है। सारी विभूतियों का वर्णन करने के अनन्तर पतञ्जलि अपने मूल लक्ष्य पर आ जाते हैं। मूल लक्ष्य कैवल्य है। इसके लिए चित्त और पुरुष की शुद्धि होनी चाहिए।

चित्त की शुद्धि का अर्थ है रजस् और तमस् के मैल का दूर हो जाना। ऐसा चित्त पुरुष तथा प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करा सकता है। पुरुष की शुद्धि यह है कि वह चित्त पर आत्मा का अध्यारोप न करे और चित्त के भोगों को अपना भोग न माने। यह विवेक ज्ञान कैवल्य में उपयोगी है। इससे अविद्या का नाश हो जाता है और अविद्या का नाश होने पर अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेश भी भुने हुए बीज के समान अपना फल देने में असमर्थ हो जाते हैं।

व्यास भाष्य में स्पष्ट किया गया कि विभूतियों का वर्णन इसलिए किया गया है कि योग में श्रद्धा उत्पन्न हो। संयम से कोई विभूति मिलने पर योग की सामर्थ्य के प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है। यही विभूतियों के वर्णन का फल है। किन्तु किसी योगी को वे विभूतियाँ मिल ही जायें, यह आवश्यक नहीं। तथापि यदि ये विभूतियाँ सहज ही प्राप्त भी हो जायें तो साधक को उनमें रमना नहीं चाहिये और उनका प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिये।

❒❒❒

ॐ

पातञ्जलयोगसूत्र

कैवल्यपाद

सूत्र—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः॥ ४.१॥

अर्थ—सिद्धियाँ जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि से उत्पन्न होने वाली होती हैं।

व्याख्या

चेतन जब शरीर धारण करता है तो उसमें अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हो सकती हैं। उनमें से कुछ अलौकिक शक्तियाँ जन्म से ही प्राप्त होती हैं, उदाहरणतः पक्षियों में जन्म से ही आकाश में उड़ने की तथा जलचरों में पानी में तैरने की क्षमता होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में भी जन्म के समय में भी कुछ न कुछ विशेषता रहती है जिसे पहचान कर उस व्यक्ति के लिए भविष्य का कार्यक्रम बनाया जा सकता है कि वह व्यापारी बने या सैनिक या शिक्षक। यह भी समझना चाहिये कि शैशव अवस्था में बच्चा आनन्द में ही रहता है। यह

आनन्द उसे जन्म से ही वरदान के रूप में प्राप्त होता है। यह आनन्द ही हम सबका स्वभाव है। यह हमें जन्म से ही प्राप्त है। योगी भी पुनः बालक ही बन जाता है। उपनिषद् कहते हैं—पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह संकल्प-विकल्प है। जितना अधिक संकल्प-विकल्प उतने बड़े पंडित या विद्वान्। जैसे संकल्प-विकल्प छूटता है, पाण्डित्य छूटता है और वह निर्दोष बाल्यावस्था प्रकट हो जाती है, जो हमारा सहज रूप है और हमें किसी प्रयत्न से प्राप्त नहीं है अपितु वह जन्म से ही सिद्ध है।

दूसरी सिद्धि औषधियों से प्राप्त होती है। वैदिक काल में सोमरस पीने की प्रथा थी जिससे अलौकिक आनन्द प्राप्त होता था।

तीसरा उपाय मन्त्र है। जप से उत्पन्न होने वाली तरंगें शरीर के रसायन को बदल देती हैं। इसी प्रकार संगीत भी अपना प्रभाव डालता है।

चौथा उपाय तप है। तप शरीर की और मन की सामान्य प्रवृत्ति के प्रतिकूल जाना है। इससे मन का बन्धन शिथिल होता है। मन और शरीर पर नियन्त्रण होने से व्यक्ति इन्हें अपनी इच्छा के अनुकूल चला सकता है।

तप में भी इन्द्रियों और मन के साथ संघर्ष करना पड़ता है। किन्तु समाधि में व्यक्ति मन और इन्द्रियों के पार चला जाता है। मन का कार्य है इच्छा करना। समाधि का अर्थ है निष्काम हो जाना। कामना के छूट जाने पर हम निर्भय हो जाते हैं। यह समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धि है।

सूत्र—जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ ४.२॥

अर्थ—प्रकृति के भरपूर होने पर एक प्रकृति से दूसरी प्रकृति में रूपान्तरण हो जाता है।

व्याख्या

यह सूत्र कहता है जहाँ प्रकृति परिपूर्ण हो जाती है वहाँ व्यक्ति का रूपान्तरण हो जाता है अर्थात् पहले सूत्र में सिद्धि की प्राप्ति के जो साधन दिये गये हैं वे जब अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त होते हैं तो व्यक्ति का आमूल चूल परिवर्तन हो जाता है।

सूत्र—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ४.३॥

अर्थ—निमित्त (धर्म, अधर्म) प्रकृतियों को प्रेरित नहीं करते अपितु आवरण को हटा देने का ही कार्य करते हैं जैसे किसान (क्यारियों की डौली से मिट्टी को हटा देता है तो पानी स्वयं ही क्यारियों में बह आता है।)

व्याख्या

इस सूत्र में यह बताया गया कि प्रकृति तो पहले से ही उपस्थित है। योग के साधन प्रकृति के बीच में आने वाली बाधाओं को उसी प्रकार हटाने में सहायक होते हैं जिस प्रकार किसान क्यारियों की डौली में से मिट्टी हटा देता है तो उस क्यारी में जल स्वयं ही बहने लगता है। योग के साधन आवरण को हटा देते हैं तो प्रकृति में रहने वाला सत्व गुण स्वयं ही साधक को रूपान्तरित कर देता है। इसके विपरीत यदि अधर्म धर्म के प्रतिबन्ध को हटा दे तो तमोगुण और रजोगुण साधक को नीचे ले जाते हैं।

सूत्र—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥ ४.४॥

अर्थ—केवल अस्मिता से चित्तों का निर्माण होता है।

व्याख्या

सूत्र का शब्दार्थ इतना ही है कि केवल अस्मिता मात्र से निर्माण चित्त बनते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि यह कहना चाहते हैं कि जैसी हमारी अस्मिता होती है वैसे ही चित्तों का निर्माण हम कर लेते हैं। आज एक व्यक्ति हिन्दू है तो उसे हिन्दू धर्म सर्वोत्तम प्रतीत होता है, किन्तु वह कल मुसलमान बन जाये तो उसका चित्त भी बदल जायेगा। यह चित्त कृत्रिम है, किन्तु स्वाभाविक चित्त किसी भी अस्मिता से नहीं जुड़ा होता। हम स्वाभाविक चित्त पर आ जायें तो उसकी वृत्तियों का निरोध सरलता से हो सकता है।

परम्परा में इस सूत्र का यह अर्थ दिया गया है कि सिद्धि के जो पाँच उपाय बताये गये हैं उनमें से समाधि से उत्पन्न होने वाला चित्त ही वासना रहित होता है। शेष जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से उत्पन्न होने वाला चित्त कर्म और वासना से युक्त होता है।

सूत्र—प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ४.५ ॥

अर्थ—भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में एक ही चित्त अनेक चित्तों को प्रेरित कर देता है।

व्याख्या

एक चित्त के द्वारा अनेक चित्त प्रवृत्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि जन्म के समय हमारा चित्त कृत्रिम नहीं होता। बाद में कृत्रिम हो जाता है, जिसे ध्यान के द्वारा पुनः शुद्ध किया जाता है। यही कैवल्य प्राप्ति का उपाय है।

सूत्र—तत्र ध्यानजमनाशयम्॥ ४.६ ॥

अर्थ—उन (पाँच साधनों से निर्मित) चित्तों में ध्यान से निर्मित चित्त वासना-मुक्त होता है।

व्याख्या

जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से जिन चित्तों का निर्माण होता है उनमें वासना बनी रहती है किन्तु जिस चित्त का निर्माण ध्यान से होता है उस चित्त में वासना नहीं है। हम विभिन्न प्रकार की गतिविधियों से नाना प्रकार के पूर्वाग्रह अर्जित कर लेते हैं। ये पूर्वाग्रह ही राग-द्वेष का कारण बनते हैं। ध्यान में क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है अतः किसी प्रकार का पूर्वाग्रह अर्जित नहीं हो पाता। हमारी समस्त चित्त वृत्तियाँ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं में खोई रहती हैं। ध्यान में न अतीत की स्मृति होती है न भविष्य की कल्पना। केवल वर्तमान रह जाता है। ऐसी स्थिति में कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती।

सूत्र—कर्माशुक्लाकृष्णां योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ ४.७॥

अर्थ—योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं। शेष लोगों के तीन (शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित) प्रकार के होते हैं।

व्याख्या

हमारे कर्म अच्छे या बुरे इसलिए होते हैं कि हममें इच्छा है। वस्तुतः हम उन कर्मों को ही अच्छा कहते हैं जिनसे हमारी इच्छायें पूरी होती हैं और हम उन कर्मों को बुरा कहते हैं जिनसे हमारी इच्छायें बाधित होती हैं। जिस साधक में इच्छा नहीं रह गई उसके लिए न कोई कर्म अच्छा होता है न कोई कर्म बुरा। इस प्रकार योगी की स्थिति पाप और पुण्य से परे की होती है। इसलिए वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त

होता है। वस्तुतः हमारी इच्छायें ही हमें संसार में भ्रमण करवाती हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही हम बारम्बार शरीर धारण करते हैं।

जिनका मन कामनाओं से मुक्त नहीं हुआ वे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए जो कर्म करते हैं वे अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी हो सकते हैं। चित्त में क्योंकि तीनों गुण रहते हैं इसलिए गुणों से युक्त व्यक्ति में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म रहते हैं। अधिकतर तो उसके कर्मों में पाप और पुण्य दोनों ही मिले रहते हैं। दूसरों को हानि पहुँचाने जैसा कर्म तो पाप है ही, दूसरों को लाभ पहुँचाने जैसे कर्म के पीछे भी यदि स्वार्थ भाव रहता है तो वह कर्म विशुद्ध रूप से अच्छा न रह कर अच्छे-बुरे का मिश्रण हो जाता है।

सूत्र—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ ४.८॥

अर्थ—उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्मों के फल के अनुरूप ही वासनायें प्रकट होती हैं।

व्याख्या

मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही कर्म करने की उसकी इच्छा बनती चली जाती है। अच्छे, बुरे या मिश्रित किसी भी प्रकार के कर्म करने पर वैसा कर्म करने की आदत मजबूत हो जाती है। सूत्र में कहा गया है कि जब कोई कर्म अपना फल देना चाहता है तो उस कर्म फल के अनुरूप ही वासनायें प्रकट हो जाती हैं। उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति मनुष्य की योनि में जाता है तो उसमें वैसी ही इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी पूर्ति मनुष्य के शरीर में सम्भव है, किन्तु यदि कोई पशु योनि में जाता है तो उसमें वैसी इच्छायें पैदा होती हैं जो पशु के शरीर में पूरी हो

सकती हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की इच्छा रही ही नहीं उसे किसी प्रकार का शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

सूत्र—जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥ ४.९॥

अर्थ—(जिन वासनाओं का) जन्म, देश तथा काल का व्यवधान रहता है उनका भी अन्तर नहीं बनता क्योंकि स्मृति और संस्कार में वे स्थिर रहती हैं।

व्याख्या

जीव जब कोई एक जन्म लेता है तो अनेक जन्मों के भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न कालों में अर्जित की गई वासनायें एक साथ प्रकट हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि संस्कार स्मृति में एक साथ ही बने रहते हैं और निमित्त मिलने पर स्मृति से प्रकट हो जाते हैं।

सूत्र—तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ ४.१०॥

अर्थ—उन (वासनाओं) का अनादित्व है क्योंकि अपना भला करने की कामना (सबमें) सदा ही प्राप्त होती है।

व्याख्या

कर्म से वासना और वासना से कर्म का चक्र चलता रहता है। प्रश्न होता है कि ये वासनायें कब से प्रारम्भ हुईं। उत्तर यह है कि वासनाओं का कोई प्रारम्भ बिन्दु नहीं है, वे अनादि हैं। इसका प्रमाण यह है कि सभी प्राणियों में सदा ही यह भय बना रहता है कि मैं मर न जाऊँ। इस जन्म में तो मरण का दुःख किसी को अनुभव हुआ नहीं किन्तु

क्योंकि वासना सदा से है इसलिए उस वासना के वशीभूत होकर प्राणी मरण के दु:ख से भयभीत होता है।

यद्यपि प्राणी में अनेक वासनायें रहती हैं तथापि सभी वासनायें एक साथ प्रकट नहीं होतीं। वासना केवल वहीं प्रकट होती है जो उस कर्म के अनुकूल हो जो कर्म फल देने के लिए उन्मुख हुआ है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि चित्त तो सर्व व्यापक है किन्तु उसकी वृत्ति संकोच या विस्तार करती है। चित्त का यह संकोच और विस्तार दो निमित्तों के कारण होता है—एक बाह्य निमित्त जैसे स्तुति, दान और अभिवादन। दूसरे आन्तरिक निमित्त हैं जिनमें बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं, जैसे—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, वैराग्य आदि। इनमें बाह्य निमित्तों की अपेक्षा आन्तरिक निमित्त प्रमुख हैं। इन निमित्तों से प्राणी में असाधारण शक्ति आ जाती है।

सूत्र—हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ४.११॥

अर्थ—ये (वासनायें) अपने हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन से संगृहीत हैं अत: इन (हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन) के न रहने पर ये (वासनायें) भी नहीं रहतीं।

व्याख्या

वासना अनादि हैं किन्तु उनका अन्त हो सकता है। वासनाओं का हेतु होता है, फल होता है और आश्रय तथा आलम्बन होता है। यदि इन चारों का अभाव कर दिया जाये तो वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। वासनाओं के मूल में अविद्या है। अविद्या से ही शेष चार क्लेश, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश उत्पन्न होते हैं। ये पाँचों वासनाओं

के हेतु हैं। धर्म से सुख होता है और सुख में राग होता है। अधर्म से दु:ख होता है और दु:ख में द्वेष होता है। राग और द्वेष से मनुष्य अच्छे-बुरे कर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार पाँच क्लेश और कर्म वासना के हेतु हैं। वासना के फलस्वरूप मनुष्य को जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। वासना का हेतु न रहे तो क्रमशः वासना का फल भी नहीं रहता। अविद्याग्रस्त चित्त ही वासना का आश्रय है। अविद्या के चले जाने पर यह आश्रय भी नहीं रहता। इन्द्रियों के विषय वासनाओं का आलम्बन हैं किन्तु यदि अविद्या न हो तो वासनाओं का आलम्बन होने पर भी वासनायें नहीं रहतीं। इस प्रकार वासनाओं का अभाव हो जाता है। अविद्या का कारण अपने को न जानना है। अपने को जाने बिना संसार को भी ठीक से नहीं जाना जा सकता, यही वासना का कारण है।

सूचनायें इकट्ठी कर लेना ज्ञान नहीं है। व्यष्टि समष्टि का ही रूप है। इसलिए व्यष्टि जान लेने पर समष्टि जान ली जाती है। जब हम जाग रहे होते हैं तब भी हम अपने को न जानने के कारण विचारों की दुनिया में खोये रहते हैं। सुषुप्ति में विचार नहीं आते, किन्तु सुषुप्ति में हम अपने प्रति भी सजग नहीं रहते। समाधि में विचार नहीं आते, किन्तु उस समय हम अपने प्रति सजग भी होते हैं। हम सूचनाओं को एकत्र करके यह मान लेते हैं कि हमने जान लिया किन्तु, वस्तुत: हम कुछ भी नहीं जानते और अज्ञान में ही जीवन पूरा हो जाता है।

सूत्र—अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥४.१२॥

अर्थ—क्योंकि काल के भेद से धर्मों की धर्मी चित्त में स्थिति होती है अत: भूत और भविष्यत् के धर्म भी (वर्तमान में सक्रिय न होने पर भी) स्वरूपत: रहते हैं।

व्याख्या

योग दर्शन का आधार सांख्य दर्शन है। सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है। सत्कार्यवाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का नाश नहीं हो सकता, फिर वासना का नाश कैसे हो सकता है। इसका उत्तर देते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया कि सभी धर्म, धर्मी में तीन प्रकार से रहते हैं। जो धर्म अभी अभिव्यक्त नहीं हुए वे भविष्यत् अवस्था में रहते हैं और वे अपना कार्य प्रकट नहीं कर पाते। वर्तमान अवस्था में वे अपना कार्य प्रकट करते हैं। किन्तु अपना कार्य प्रकट करके वे अतीत अवस्था में चले जाते हैं। इस प्रकार किसी धर्म का अभाव होने का यह अर्थ नहीं है कि वह सर्वथा नष्ट हो जाता है अपितु वह धर्मी में भूत अवस्था में बना रहता है। अभिप्राय: यह है कि वासनाओं के नष्ट होने का आशय है उनका अव्यक्त हो जाना। अव्यक्त होने पर वासनायें अपना कार्य नहीं कर सकतीं और इस प्रकार साधक जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। वासनायें वर्तमान में रहकर अपना फल देती हैं। यदि वे अतीत में चली जायें तो वे निष्क्रिय हो जाती हैं। धर्मी में तो धर्म बना ही रहता है किन्तु अतीत और भविष्य में रहने वाले धर्मों का अनुभव नहीं हो पाता।

सामान्यत: हम केवल वर्तमान को जान पाते हैं किन्तु जो कुछ बीत गया वह भी हमारे अवचेतन मन में रहता है। इसी प्रकार भविष्य भी अव्यक्त अवस्था में रहता है।

सूत्र—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ ४.१३ ॥

अर्थ—वे (धर्म) गुणरूप तथा व्यक्त और सूक्ष्म हैं।

सूत्र—परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ ४.१४ ॥

अर्थ—परिणाम के एक जैसा होने पर वस्तु की एकता होती है।

व्याख्या

वस्तुस्थिति यह है कि सभी धर्म कभी व्यक्त होते हैं और कभी अव्यक्त हो जाते हैं। वस्तुत: तो वे सभी त्रिगुणात्मक हैं। इन तीन गुणों के ही भिन्न-भिन्न अनुपातों में सन्निवेश होने से महत् तत्त्व से लेकर पंचभूत तक प्रकट होते हैं। पंचभूत वस्तुत: पंचतन्मात्रा ही हैं। पंचतन्मात्रायें अहंकार हैं। अहंकार महत् तत्व है और महत् तत्त्व मूल प्रकृति है और मूल प्रकृति के तीन गुण हैं। ये तीन गुण प्रकाश, क्रिया और स्थिति के स्वभाव वाले हैं। इन तीनों में तारतम्य के हिसाब से कोई प्रधान हो जाता है, कोई गौण। इस कारण मूलत: सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं किन्तु उनमें प्रधानता और गौण भाव से अन्तर आ जाता है। जब ये तीनों गुणसाम्य अवस्था में होते हैं तब मूल प्रकृति बनती है। इनमें सत्व के प्रधान होने पर और रजस्, तमस् के अत्यन्त गौण होने पर महत् तत्त्व बनता है। रजस्, तमस् के थोड़ा अधिक होने पर अहंकार होता है और अहंकार में रजस्, तमस् और अधिक हो जायें तो सत्त्व प्रधान अंश से मन, रजस् प्रधान अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ और तम: प्रधान अंश से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार के तम: प्रधान अंश में रजस्, तमस् का परिणाम पाँच तन्मात्रायें हैं। इन पाँच तन्मात्राओं में रजस्, तमस् के ही विषम परिणाम रूप पाँच स्थूल भूत हैं। इन स्थूल भूतों में प्रकाश वाले हल्के और सुखद भौतिक पदार्थ सत्त्वगुण प्रधान हैं, उत्तेजक प्रवृत्ति कराने वाले और दु:ख देने वाले रजस् प्रधान हैं। भारी, रोकने वाले तथा प्रमाद और मोह उत्पन्न करने वाले पदार्थ तमस् प्रधान हैं। इस प्रकार तीन गुण ही भिन्न-भिन्न रूप में, भिन्न-भिन्न पदार्थों में रह रहे हैं।

सूत्र—वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥ ४.१५ ॥

अर्थ—वस्तु की समानता (अर्थात् एक ही वस्तु होने पर भी) चित्त के भिन्न होने के कारण मार्ग (अर्थात् वस्तु के प्रति दृष्टिकोण) भिन्न-भिन्न होता है।

व्याख्या

प्रश्न होता है कि यदि सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं तो हमारी प्रतिक्रिया पृथक्-पृथक् क्यों होती है? उत्तर यह है कि हमारे चित्त भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं इसलिए एक वस्तु भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न दिखाई देती है। इसका यह अभिप्रायः नहीं मान लेना चाहिये कि वस्तु का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। वस्तु तो अपने रूप में बनी रहती है किन्तु हम भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्तों के कारण उसे भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं, किन्तु वस्तुएँ चित्त की कल्पना से नहीं बनतीं उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है।

वस्तुस्थिति यह है कि वस्तु का अस्तित्व स्वतन्त्र है। यह कहना ठीक नहीं है कि जब कोई नहीं जान रहा होता है तब वस्तु होती ही नहीं है। हम अपनी पीठ को नहीं जानते किन्तु फिर भी वह होती ही है।

सूत्र—न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ ४.१६ ॥

अर्थ—वस्तु की सत्ता एक चित्त के आधीन नहीं है। यदि चित्त उसे न जाने तब वह क्या होगी अर्थात् तब भी वह होगी ही।

व्याख्या

यह कहना ठीक नहीं है कि यदि वस्तु है तो वह हर समय ही चित्त को ज्ञात होनी चाहिए। चित्त को कोई वस्तु तभी ज्ञात होती है जब

इन्द्रियों के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब चित्त में पड़े। जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब इन्द्रियों के द्वारा चित्त पर नहीं पड़ता वह वस्तु अज्ञात कहलाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो ज्ञात नहीं है वह है ही नहीं।

सूत्र—तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ॥ ४.१७ ॥

अर्थ—उस (पदार्थ) का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ने से वस्तु ज्ञात होती है, अन्यथा अज्ञात।

व्याख्या

जब किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब हमारे चित्त पर पड़ता है तो हमारा चित्त उस वस्तु के रंग में रंग जाता है। वह रँगे हुए चित्त से उस वस्तु को भी रंग देता है। इस प्रकार वस्तु का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। योग का प्रयोजन यह है कि हम निर्मल चित्त से वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को देख सकें। वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप तो त्रिगुणात्मक है। इसलिए उन वस्तुओं के प्रति मध्यस्थ भाव रखना चाहिये, राग-द्वेष का नहीं।

सूत्र—सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या-परिणामित्वात्॥ ४.१८ ॥

अर्थ—पुरुष के अपरिणामी होने के कारण उस स्वामी (पुरुष) को चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं।

व्याख्या

चित्त कभी बाहर के किसी विषय को जानता है और कभी नहीं जानता। इस प्रकार चित्त में परिवर्तन होता है किन्तु पुरुष में कोई परिणमन नहीं होता। इस कारण पुरुष सदा ही चित्तवृत्तियों को जानता रहता है।

एक दूसरा अन्तर यह है कि चित्तवृत्ति तो जिस पदार्थ को जानती है उसी पदार्थ के आकार में स्वयं भी परिणत हो जाती है, किन्तु पुरुष किसी वस्तु के आकार में परिणत नहीं होता।

पुरुष को प्रकृति से परे कहा गया है। प्रकृति के पाँच स्तर हैं जिन्हें पाँच कोष कहा जाता है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। पुरुष इन पाँचों से परे है। वह इन पाँचों का साक्षी है। इन पाँचों कोषों में परिवर्तन होता रहता है किन्तु इनके साक्षी पुरुष में परिवर्तन नहीं होता। पुरुष ही हमारा अपना स्वरूप है। जो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है वह अनुकूलता-प्रतिकूलता में विचलित नहीं होता है। यही स्थितप्रज्ञता है।

सूत्र—न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ ४.१९॥

अर्थ—वह (चित्त) दृश्य है अत: वह स्व-प्रकाशक नहीं हो सकता।

व्याख्या

दीपक स्व-पर-प्रकाशक होता है अर्थात् वह घट-पट आदि को तो प्रकाशित करता है स्वयं को भी प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार चित्त को भी स्व-पर-प्रकाशक मान लें तो पुरुष की आवश्यकता नहीं रहती। यह तर्क ठीक नहीं है। दीपक अपने को नहीं जानता, उसे जानने के लिए किसी ज्ञान वाले की आवश्यकता है। इसी प्रकार चित्त अपने को नहीं जान सकता उसे जानने के लिए पुरुष की आवश्यकता है। तर्क यह है कि जो भी दृश्य है वे द्रष्टा के द्वारा जाने जाते हैं न कि स्वयं के द्वारा। उसी प्रकार चित्त भी क्योंकि दृश्य है अत: उसका जानने वाला चेतन पुरुष होना चाहिये।

सूत्र—एकसमये चोभयानवधारणम्॥ ४.२०॥

अर्थ—एक समय में (युगपत्) दोनों (विषय तथा विषयी) का ज्ञान नहीं हो सकता।

व्याख्या

यदि यह कहा जाये कि चित्त अपने विषय को भी जान लेता है और स्वयं को भी जान लेता है तो यह दोष आयेगा कि विषय और विषयी (चित्त) का ज्ञान एक समय में मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है।

सूत्र—चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च॥ ४.२१॥

अर्थ—एक चित्त का दूसरे चित्त द्वारा देखना मानने पर बुद्धि की बुद्धि (और फिर उसकी बुद्धि) होना अनवस्था दोष उत्पन्न कर देगा और स्मृतियों में भी सङ्कर हो जायेगा।

व्याख्या

कहा जा सकता है कि चित्त को दृश्य मान लें तो भी एक चित्त का ज्ञान दूसरे चित्त से हो जायेगा और इस प्रकार पुरुष की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु, ऐसा नहीं माना जा सकता। किन्तु, यदि एक चित्त का ज्ञान दूसरे चित्त से होना मान लें तो दूसरे चित्त को जानने के लिए तीसरा और तीसरे को जानने के लिए चौथा मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। इसके अतिरिक्त अनेक बुद्धियों को विषय का अनुभव होगा और तब यह पता न लग पायेगा कि हमें किस अनुभव की स्मृति हो रही है। इस प्रकार स्मृतिसंकर का दोष आ जायेगा।

सूत्र—चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ ४.२२ ॥

अर्थ—परिणमन-रहित (होने पर भी) पुरुष को (अपने में प्रतिबिम्बित) उस (चित्त के) आकार (जैसा) आकार प्राप्त होने पर अपने (विषयभूत) बुद्धि अर्थात् चित्त का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या

प्रश्न होता है कि पुरुष में न क्रिया होती है न परिणाम तब उसे चित्त के विषय का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। उत्तर यह है कि पुरुष में चित्त प्रतिबिम्बित होता है। और इस प्रकार वह चित्तवृत्ति का ज्ञाता कहला जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा चञ्चल नहीं होता, किन्तु जल की चञ्चलता के कारण उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चन्द्रमा भी चंचल दिखता है, इसी प्रकार चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन भी ज्ञाता न होने पर भी चित्त के विषयाकार होने से तदाकार प्रतीत होता है। वस्तुतः पुरुष ज्ञान स्वरूप है, द्रष्टा नहीं। बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के कारण चित्त और चेतन में जो अभिन्नता दिखाई देती है उसके कारण पुरुष भी द्रष्टा प्रतीत होने लगता है। अभिप्राय यह है कि प्रतिबिम्ब में विचार आने पर भी बिम्ब अविकृत रहता है।

सूत्र—द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ ४.२३ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य से रञ्जित चित्त सारे अर्थों (अर्थात् पुरुष और घटपदादि पदार्थ दोनों) वाला है।

व्याख्या

वस्तुतः पुरुष, बाह्यजगत् और चित्त तीनों की पृथक् सत्ता है। जो प्रत्ययवादी केवल चित्त को ही मानते हैं उन्हें यह समझना चाहिये

कि चित्त जड है। उसमें सत्त्वगुण प्रधान है वह क्रियाशील और परिणमनशील है। तथापि पुरुष का प्रतिबिम्ब जब उसमें पड़ता है तो वह चेतन जैसा दिखाई देने लगता है और यह भ्रम होने लगता है कि पुरुष की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थ जब चित्त में आते हैं तो चित्त उन्हीं के आकार में आकारित हो जाता है और यह लगने लगता है कि चित्त के अतिरिक्त कोई बाह्य पदार्थ है ही नहीं। यह बौद्ध दर्शन का मत है। वस्तुस्थिति यह है कि चित्त में पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण चित्त चेतन सा होकर पदार्थों को जानने लगता है। जिस प्रकार किसी स्फटिक मणि के पास एक नीला और दूसरा लाल पुष्प रख दें तो स्फटिक मणि के तीन रूप प्रतीत होंगे—उसका अपना श्वेत वर्ण, नीले फूल का तथा लाल फूल का प्रतिबिम्बित नीला और लाल वर्ण। इसी प्रकार चित्त भी अपने रूप में ग्रहणाकार, विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार और पुरुष के प्रतिबिम्ब से ग्राहकाकार होने के कारण तीन रूप वाला हो जाता है। इसीलिए सूत्र में चित्त को सारे अर्थों वाला कहा गया है। जब तक यह विवेक न हो तब तक चित्त में पुरुष का प्रतिबिम्ब देखकर यह भ्रम हो जाता है कि चित्त के अतिरिक्त कोई पुरुष नहीं है और चित्त में पदार्थों का प्रतिबिम्ब देखकर यह भ्रम हो जाता है कि चित्त के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि चित्त में सत्वगुण प्रधान है जिसकी निर्मलता के कारण पुरुष उसमें ही प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ यह शंका होती है कि पुरुष तो सर्वव्यापक और अपरिणामी है तथा अत्यन्त निर्मल है। उसका प्रतिबिम्ब अशुद्ध सत्व में कैसे पड़ सकता है? उत्तर यह है कि जल में सर्वव्यापक, निर्मल और अपरिणामी आकाश का

भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है अत: उसी प्रकार पुरुष भी चित्त में प्रतिबिम्बित हो सकता है।

सूत्र—तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्॥ ४.२४॥

अर्थ—क्योंकि चित्त संहत्यकारी (अर्थात् तीन गुणों से मिलकर बना) है अत: वह अनगिनत वासनाओं से चित्रित होने पर भी दूसरों के लिये ही है।

व्याख्या

चित्त सत्व, रज और तम गुणों के मेल से बना है इसलिए उसे दूसरों के लिए होना चाहिये। यद्यपि चित्त में अनगिनत वासनायें हैं इसलिए उसे ही भोक्ता मानना चाहिये किन्तु अनेक गुणों के मेल से बना होने के कारण वह स्वयं भोक्ता नहीं हो सकता। पुरुष किन्हीं के मेल से नहीं बना है इसलिए उसे ही भोक्ता होना चाहिये।

चित्त में जब सुख होता है तब वह सुख चित्त के भोग के लिए नहीं अपितु पुरुष के भोग के लिए होता है। इसी प्रकार चित्त में जो तत्त्व-ज्ञान होता है उसका फल—मोक्ष—चित्त के लिए नहीं अपितु पुरुष के लिए ही है।

सूत्र—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः॥ ४.२५॥

अर्थ—(पुरुष और चित्त में) भेद को देखने वाले की आत्मभाव (अर्थात् मैं कौन हूँ यह) भावना (शङ्का) समाप्त हो जाती है।

व्याख्या

जब साधक पुरुष और चित्त की विशेषताओं को जान कर उनमें भेद कर लेता है तब उसका यह सन्देह दूर हो जाता है कि वह कौन है।

उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वह अपरिणामी पुरुष है और सारे परिणमन चित्तवृत्ति के हैं। इस प्रकार वह किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन में अविचलित रहता है क्योंकि उसे यह ज्ञात हो जाता है कि कोई भी परिवर्तन उसका स्पर्श नहीं कर सकता।

सूत्र—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ ४.२६॥

अर्थ—तब (विवेकख्याति होने पर) विवेक की ओर झुका हुआ उसका चित्त कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या

विवेकख्याति होने पर साधक का मन विवेक की ओर अभिमुख हो जाता है तथा कैवल्य अर्थात् मोक्ष की ओर झुक जाता है। अब वह मन विषयों के प्रति रुचि नहीं लेता।

सूत्र—तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ ४.२७॥

अर्थ—उस (विवेकज्ञान) के छिद्र अर्थात् अन्तराल में (पूर्व) संस्कारों से दूसरी (व्युत्थान की) वृत्तियों (उत्पन्न होती) हैं।

व्याख्या

इतना अवश्य है कि विवेकज्ञान हो जाने पर भी बीच-बीच में पूर्व के संस्कारों के कारण दूसरी-दूसरी ममता और अहङ्कार की वृत्तियाँ साधक में उठती रहती हैं। इसका कारण यह है कि उसकी विवेकख्याति अभी पुष्ट नहीं हुई।

सूत्र—हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ ४.२८॥

अर्थ—इन (व्युत्थान के संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशों के ही समान बतायी गयी है।

व्याख्या

इन व्युत्थान के संस्कारों को अविद्या आदि क्लेशों के समान ही हटाना चाहिये। विद्या की अग्नि में क्लेश रूपी बीज भुन जाते हैं तो उनमें जन्म-मरण रूप अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती। उसी प्रकार विवेकख्याति की अग्नि में जल कर व्युत्थान के संस्कार भी अपना प्रभाव नहीं दिखला सकते।

साधना का क्रम इस प्रकार है—विवेकज्ञान से व्युत्थान के संस्कारों का निरोध, फिर निरोध के संस्कार से विवेक के संस्कार का क्षय, और असम्प्रज्ञात समाधिक द्वारा निरोध के संस्कारों का लय। इस क्रम से चित्त को सभी प्रकार के संस्कारों से मुक्त कर दिया जाता है।

सूत्र—प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघः समाधिः॥ ४.२९॥

अर्थ—विवेकख्याति में भी जो सूदखोर के सामने आसक्त नहीं है उसकी निरन्तर विवेकख्याति होने से धर्ममेघ समाधि होती है।

व्याख्या

विवेकज्ञान में भी साधक को अटक नहीं जाना चाहिये। जैसे ब्याजखोर की ब्याज वसूल करने में आसक्ति रहती है उस प्रकार साधक की विवेकज्ञान में आसक्ति नहीं रहनी चाहिये। जब साधक विवेकज्ञान में भी अनासक्त हो जाता है तो उसे किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं रहती। उस समय उस पर धर्म मेघ के समान अनायास ही बरसने लगता है। अब व्युत्थान की वृत्ति बीच-बीच में उदित नहीं होती। इस धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा असम्प्रज्ञात समाधि है।

सूत्र—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ४.३०॥

अर्थ—उस (धर्ममेघ समाधि) से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है।

व्याख्या

उस धर्ममेघ समाधि के समय अविद्यादि क्लेश तथा शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित कर्म निवृत्त हो जाते हैं। वह जीवन्मुक्त हो जाता है तथा शरीर छूटने पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। अविद्या ही पुनर्जन्म का मूल कारण है।

सूत्र—तदा सर्वावरणमलापेतस्य
ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ ४.३१॥

अर्थ—तब (जीवन्मुक्त होने पर) उस ज्ञान के, जिसका सारे आवरणों का मल दूर हो गया है, अनन्त होने के कारण ज्ञेय अल्प ही रह जाते हैं।

व्याख्या

जीवन्मुक्त के सारे आवरण क्षीण हो जाते हैं। उसका ज्ञान अनन्त हो जाता है जिसके सम्मुख सारे ज्ञेय अल्प ही प्रतीत होते हैं। ज्ञेय सान्त हैं, ज्ञान अनन्त। जैसे सूर्य के प्रकाश के सामने घटपटादि पदार्थ थोड़े से ही हैं, उसी प्रकार अनन्त ज्ञान के सम्मुख ज्ञेय तुच्छ ही हैं।

सूत्र—ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ४.३२॥

अर्थ—तब (जीवन्मुक्ति होने पर) गुणों का प्रयोजन समाप्त हो जाने पर उनके परिणमन का क्रम भी समाप्त हो जाता है।

व्याख्या

प्रश्न होता है कि गुणों का स्वभाव है परिणमन करना। फिर जीवन्मुक्त के शरीर छोड़ देने पर भी वे गुण शरीर का निर्माण क्यों नहीं कर देंगे। उत्तर यह है कि गुण पुरुष के ही भोग-अपवर्ग के लिये प्रवृत्त होते हैं। जब पुरुष का भोग और अपवर्ग सिद्ध हो गया तो वे परिणमन का क्रम समाप्त कर देते हैं। किन्तु गुण उन पुरुषों के लिये परिणमन करते रहते हैं जिन पुरुषों का अपवर्ग अभी सिद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार उनकी परिणमनशीलता भी बनी रहती है।

सूत्र—क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ४.३३ ॥

अर्थ—(गुणों के) परिणमन के क्रम का अर्थ है क्षण-क्षण में होने वाला (होने पर भी) अन्त में ही ग्रहण हो सकने वाला (परिवर्तन)।

व्याख्या

गुणों में परिणमन प्रत्येक क्षण होता रहता है किन्तु वह इतना सूक्ष्म होता है कि प्रत्येक क्षण में होने वाला परिणमन अनुभव में नहीं आता किन्तु परिणामों की समाप्ति पर वह अनुभव-गम्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे एक कपड़ा प्रत्येक क्षण ही बदलता है किन्तु उसका पुरानापन प्रत्येक क्षण दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु कुछ काल के अनन्तर ही अनुभव में आता है, उसी प्रकार प्रत्येक परिणमन की स्थिति समझनी चाहिये। वह अन्त में ही ग्राह्य बन पाता है प्रत्येक क्षण में नहीं।

सूत्र—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ ४.३४॥

अर्थ—पुरुष के प्रयोजन सिद्ध कर देने पर गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चेतना की शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना है।

व्याख्या

गुण जब पुरुष का प्रयोजन सिद्ध कर चुकते हैं तब अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इसे प्रतिप्रसव कहा जाता है, अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाना। संस्कार मन में, मन अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि में तथा बुद्धि प्रधान प्रकृति में लीन हो जाती है। यही गुणों का प्रतिप्रसव है। अब गुण शरीरादि का निर्माण नहीं करते। यही कैवल्य है।

इस कैवल्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि चित्तिशक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। गुणों का प्रतिप्रसव और चित्तिशक्ति का स्वरूप प्रतिष्ठित होना युगपत् है किन्तु कथन की अपेक्षा से इस कैवल्य की स्थिति को दोनों प्रकार से कहा जा सकता है, केवल कथन के प्रकार का अन्तर है।

❒ ❒ ❒